रमा जैन सांस्कृतिक ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक....
सम्पादक एवं नियोजक [हिन्दी]
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण १९७७

Rama Jain Samskritik Series
Title No....
SUNA HAI MAINNE
AAYUSHMAN !
(Esseys on Teachings of Mahavira)
Muni Roopchandra
First Edition : May 1977
Price : Rs. 5.00

सुना है मैंने आयुष्मन् !
मुनि रूपचन्द्र

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी.४५/४७, कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
प्रथम संस्करण : मई १९७७
मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००१

प्रस्तुत

□

'सुना है मैंने आयुष्मन्' विद्वान् साधक, चिन्तक और कवि मुनि श्री रूपचन्द्रजी के उन निबन्धों का संग्रह है जिनकी विषय-वस्तु पर उन्होंने भगवान् महावीर के निर्वाण महोत्सव वर्ष में राजगिर-नालन्दा के पावन भूखण्ड में चातुर्मास के दिनों में ध्यानस्थ बैठकर गहराई से चिन्तन-मनन किया, और जिसे विचारशील पाठकों तक पहुँचाने के लिए भाषा और शैली का वह रूप दिया जो अपनी सहजता के कारण मर्म में पैठती है, और मुग्ध करती है।

कठोर तपस्या और सुदीर्घ आत्म-मन्थन द्वारा उपलब्ध भगवान् महावीर की मूल वाणी के कथ्य को संग्रथित करनेवाले गणधर सुधर्मा ने जब इसे अभिव्यक्ति दी तो उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेशों का कथन इस वाक्य से प्रारम्भ किया : 'सुयं मे आउसं' (सुना है मैंने आयुष्मन्), 'तणं भगवया एव मक्खायं' (उन भगवान् महावीर द्वारा इस प्रकार कहा गया)—यह वाक्य श्रुत की प्रामाणिकता को ही नहीं प्रतिष्ठित करता है, यह जन-जन के प्रति कल्याण-भावना को, आत्मीयता को और प्रियता को भी रेखांकित करता है। उपनिषदों में जिस 'प्रेय और श्रेय' की द्विधा की ओर इंगित है, यहाँ उस द्विधा का अतिक्रमण करके, दोनों को आध्यात्मिक समरसता में निमग्न कर दिया गया है।

'सुना है मैंने आयुष्मन्' एक ऐसी कृति है जो भगवान् महावीर के उपदेशों को, आज के जीवन के आयामों से जोड़कर उनके आत्म-बोधी सत्य को उजागर करती है। पुरानी शब्दावलियों में बँधे-कसे ढाँचे से उन्मुक्त करके सत्य को अपनी सम्पूर्ण निजता में, आज के मुहावरे में, अभिव्यक्त किया गया है—वह मुहावरा जो आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के सन्दर्भों के बीच में से उपजा है और जो शाश्वत को आधुनिक तराश के दर्पण में प्रतिबिम्बित करता है।

प्राचीन चिन्तन को भाषा का नया परिधान और नयी शैली देनेवाले इन दिनों कई प्रमुख आचार्य धर्मगुरु के अधिष्ठान पर विराजमान हैं। उनके भक्तों की संख्या भी एक-से-एक बढ़कर है, विशेषकर इसलिए भी कि उनके द्वारा या तो प्रेय को श्रेय के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, या चमत्कार की आधार-शिला पर धर्म से अधिक व्यक्तित्व की गरिमा को उद्भासित किया जा रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि अनन्त साधना से उपलब्ध अक्षय सत्य को प्राचीन

आधार-भूमि की पहचान मिटती जा रही है और इन गुरुओं के ऐन्द्रजालिक पल्लवों, पुष्पों और फलों का आस्वाद भक्तों को भ्रमित कर रहा है।

मुनिश्री रूपचन्द्रजी के प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने प्राचीन, विश्वसनीय, निजी संस्कृति की धरती पर मानवधर्म के वैज्ञानिक व्याख्याकार भगवान् महावीर की उपदेश-वाटिका को इस प्रकार पल्लवित और पुष्पित किया है कि आज का मानव वहाँ अपनी उद्विग्नताओं से ही त्राण नहीं पायेगा, वह बुद्धिगम्य, आस्था-मूलक स्थायी समाधान भी पा जायेगा विश्व शान्ति और मानव-सौहार्द का, जिसकी नींव भगवान् महावीर ने समता, अहिंसा और अपरिग्रह पर रखी।

सार-गर्भिता इस पुस्तक की विशेषता है। छोटे-छोटे अध्यायों या खण्डों के मार्मिक स्वयंसिद्ध शीर्षक; बौद्धिक-वर्ग को दृष्टि में रखकर विवेचन की प्रस्तुति; जागरूक और जिज्ञासु पाठक के मन को बांधनेवाली सहज भाषा—सब गुणों ने मिलकर इस कृति को विशिष्ट बनाया है।

आधुनिक श्रोताओं के लिए धर्म का मर्म और भगवान् महावीर की वाणी की अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत करनेवाली शैली उन वक्ताओं के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी जो परम्परागत ज्ञान को संश्लिष्ट और सहज शैली में प्रस्तुत करने की विधा के अन्वेषी हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण महोत्सव पर साहित्य सृजन की जो शृंखला अनवरत चल रही है, उसमें एक और सुनहरी कड़ी जोड़ सकने का सुख भारतीय ज्ञानपीठ को मुनिश्री रूपचन्द्रजी की इस कृति के माध्यम से प्राप्त हो रहा है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन
मन्त्री
एवं
ग्रन्थमाला सम्पादक-नियोजक

भिन्नता में अभिन्नता ओतप्रोत है। अभिन्नता में से भिन्नता का विस्तार हो रहा है। यही विकास की प्रक्रिया है। धर्म जीवन का विज्ञान है, जीवन सतत विकासमान है, अतः धर्म का प्रायोगिक पर्यायात्मक रूप सतत विकासमान होना आवश्यक है। जीवन से निरपेक्ष रहकर धर्म अपनी सत्ता और अर्थवत्ता खो देता है क्योंकि वह जीवन की ही व्याख्या और दिशा-निर्देश है। जीवन परम्परा है, प्रगति भी। परम्परा का सतत विकास ही प्रगति है। प्रगति का प्रत्येक क्षण परम्परा से जुड़ा है। प्रगति और परम्परा परस्पर विलोम नहीं हैं, सापेक्ष ही नहीं, अविभाज्य एकत्व में आबद्ध हैं।

वर्तमान जीवन की सारी दिशाओं के परिप्रेक्ष्य में महावीर के दर्शन को व्यावहारिक कसौटी पर कसकर देखना अनिवार्य है। सामाजिक, आर्थिक विकास की सारी दिशाओं का अवलोकन करते हुए हम पाते हैं कि परिवेश बदलते रहे हैं, लेकिन उनके बुनियादी आधार सदा एक-से रहे हैं। आर्थिक चिन्तन के जगत् में मार्क्स ने न्याय और समता का जो स्वर मुखरित किया है वह प्लेटो के 'रिपब्लिक', ईसाई पैगम्बरों के उपदेशों एवं बुद्ध तथा महावीर की वाणी में भी मिलता है। महावीर समता को धर्म का पर्याय मानते हैं। सन्निधि को शस्त्र मानते हैं। असंविभागी को मुक्ति का अधिकारी नहीं मानते। अपरिग्रह को धार्मिक जीवन की आधारशिला, आर्थिक जीवन में अहिंसा के अवतरण का अनिवार्यतः अपेक्षित हेतु मानते हैं। आत्मानुशासन के अभाव को ही उन्होंने सारे विद्रोहों, बाहर से आरोपित शासनोंका कारण माना है जिसका मानवीय इतिहास साक्षी है। प्रस्तुत संग्रह में मैंने महावीर के अपरिग्रह दर्शन की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सम्भावित व्यवस्था के कुछ सूत्र प्रस्तुत किये हैं जो मनीषियों के लिए चिन्तनीय हैं।

ध्यान और योग की महावीरोक्त प्रणाली को मनोविश्लेषण-वेत्ताओं फ्रॉयड, एडलर एवं जुंग के मनःचिकित्सा-विज्ञान के समानान्तर अध्ययन कर अनेक समान तथ्य पाये हैं जिनका तत्सम्बन्धी निबन्धों में विवेचन है। आधुनिक सामान्य एवं असामान्य मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इन सब तथ्यों के सम्यक् अनुशीलन एवं सुचारु अध्ययन की अपेक्षा है। मुझे लगता है कि मानस-रोगों की चिकित्सा की एक सुविकसित एवं सुव्यवस्थित प्रणाली महावीर के ध्यान एवं योग की प्रक्रिया में मिलती है जो वैज्ञानिक गवेषणा के योग्य है।

भगवान् के जीवन और सन्देश में मुखरित थी। वहीं भगवान् के पावन सन्देश के मुख्य विषयों पर नवचिन्तन का एक प्रेरणान्वित क्रम चला जिसकी निष्पत्ति यह संकलन है। राजगीर के पांचों पर्वतों, वनों, पुरातन अवशेषों में आज भी वे सूक्ष्म स्पन्दन विद्यमान हैं जो किसी भी संवेदनशील मानस को यह अनुभव कराने में सक्षम हैं जैसे कि अभी भी वहां भगवान् साकार होकर सर्वत्र विचरण कर रहे हों, अपनी अमृतवाणी के सतत प्रवाह से मानवता को आप्यायित कर रहे हों। वहाँ के युवकों में भी मैंने आध्यात्मिक भावना, जीवन के मूलभूत मूल्यों के प्रति आस्था, सतत संस्करण की प्रेरणा पायी। उक्त सारे वातावरण का इस कृति के निर्माण में अपना श्रेय है।

इस कृति के लेखन में युगप्रधान अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी का मंगल आशीर्वाद तो अक्षय प्रेरणा के स्रोत रूप में सतत विद्यमान रहा ही है। इसके साथ ही जहाँ मैं अपने सहयोगी मुनि-गण—मनक मुनि, विजय मुनि और अशोक मुनि—के अवदान का विस्मरण नहीं कर सकता, वहाँ मनीषी श्री भानीराम 'अग्निमुख' के सर्वात्मना सहयोग और विचारों की तादात्म्य अनुभूति का उल्लेख करना भी प्रासंगिक ही समझता हूँ। यद्यपि वह नहीं चाहते कि मैं ऐसा करूँ। श्री अशोक पुगलिया 'अमन' का भी सम्पादन-सहयोग इस कृति को मिला है।

विभिन्न प्रसंगों पर लिखे गये ये निबन्ध भगवान् महावीर को आधुनिक सन्दर्भों में समझने-परखने की एक भूमिका बन सकें, यही अभिलाषा है।

महावीर जयन्ती
१२ अप्रैल, १९७९
तेरापन्थी महासभा भवन, कलकत्ता

—मुनि रूपचन्द्र

अनुक्रम

□

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ

□

सुना है मैंने आयुष्मन्, उन भगवान् ने ऐसा कहा है, जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ—"जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है।"

क्या है यह संसार?

बाहर के संसार को जानने की कोशिश हजारों वर्षों से होती रही है। मिट्टी के कण से पर्वत तक, जल-बिन्दु से सागर तक, पृथ्वी से सौरमण्डल, उससे तारामण्डल, उससे भी आगे आकाशगंगाओं और नीहारिकाओं तक के विषय में मानव ने जिज्ञासाएँ की हैं और समाधान पाने का प्रयास भी किया है। भौतिक शास्त्र इस विराट् विस्तार की परिक्रमा कर अन्ततः परमाणु तक पहुँचा, परमाणु के भीतर की 'तरंगों' तक पहुँचा और तरंगों के पार, घटनाओं तक भी गया। घटनाओं के आगे वह है जो घटित नहीं होता है, उसे आज विज्ञान-क्षेत्र 'फ़ील्ड' कहता है। यह असीम क्षेत्र जिसमें घटनाएँ हो रही हैं कार्य-कारण के अटल नियमों से बँधी, भौतिक शास्त्र का अन्तिम सत्य है—अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार। इन घटनाओं का एक क्रम है, इस क्रम के कुछ सूत्र हैं जिन्हें गणितीय प्रतीकों में व्यक्त किया जा सकता है। घटनाएँ हो रही हैं जिसमें और जो घटित हो रहा है उसमें कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता। जो अघटित है स्वयं वही पृष्ठभूमि हो सकता है घटनाओं की, लेकिन घटनाएँ तभी हो सकती हैं जब कुछ घटित होनेवाला हो। अतः जो अघटित है और जो घटित हो रहा है और जो घटनाएँ हैं—इनके मध्य विभाजक रेखाएँ खींचना असम्भव हो गया है। बालू के कण से नीहारिका तक का विस्तार सिमट गया है उस 'एक' में जिसे जानना ही 'सब' को जानना है। लेकिन भौतिक शास्त्र का यहाँ अन्त हो जाता है क्योंकि वह जानने का आदी रहा है गुणों—'क्वालिटीज़'—को और उन्हें आवश्यक मानता है पदार्थ-सब्सटेन्स—के लिए। बिना सब्सटेन्स के क्वालिटी होती ही नहीं और क्वालिटीज़ के बिना सब्सटेन्स होता ही नहीं, यह अब तक की अवधारणा थी। ये क्वालिटीज़ थीं—भार, रंग, रूप, गन्ध आदि।

कहाँ है भार पदार्थ में ?

भौतिक शास्त्र जिसे भार कहता था वह गुरुत्वाकर्षण शक्ति का परिणाम है—यह सिद्ध हो गया। पृथ्वी पर जिस चीज का भार चार किलोग्राम है वह चन्द्रमा पर एक किलोग्राम ही रहती है। क्योंकि वहाँ का गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी से चार गुना कम है। शून्य आकाश में, जहाँ गुरुत्वाकर्षण नहीं है, भारहीनता है। अन्तरिक्ष-यात्रियों को इसके प्रत्यक्ष अनुभव हुए हैं। इसके शारीरिक-मानसिक प्रभावों के लिए उन्हें विशेष साधनों का उपयोग करना पड़ता है, विशेष तैयारी करनी पड़ती है। भार पदार्थ का गुण एकदम नहीं है। अपने आपमें किसी पदार्थ में कोई भार नहीं है। परस्पर आकर्षण का प्रभाव भार कहा जाता रहा है। वह एक पदार्थ-खण्ड का दूसरे पदार्थ खण्ड पर प्रभाव है। यह प्रभाव भी पारस्परिक है। पृथ्वी आदमी को खींचती है तो पृथ्वी को आदमी भी खींचता है। यह दूसरी बात है कि पृथ्वी बड़ी है आकार में, उसकी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति अधिक है परिमाण में। अतः आदमी उसे नहीं खींच पाता, वह आदमी को खींच लेती है, जैसे बड़ा चुम्बक छोटे चुम्बक को खींच लेता है।

परमाणु तक आते-जाते रंग, रूप समाप्त होने लगे। नाभिक में प्रवेश करने पर आकार भी विलुप्त होने लगा। अन्ततः जो पाया गया वह पारस्परिक परिभाषा में पदार्थ कहा ही नहीं जा सकता। पदार्थ का मूल वह है जो पदार्थ नहीं है। मात्र शून्य है वह—'मटर नथिंगनेस'। वह जो खाली है उसी से सब भरा हुआ है। वह जिसका कोई आकार नहीं, सारे आकारों में वही है। वह जिसे इन्द्रियाँ ग्राह्य नहीं कर सकतीं, वही है जिसे वे कर रही हैं। यह एक विरोधाभास-सा प्रतीत होता है लेकिन सत्य की भाषा लाओ-त्जे के शब्दों में विरोधाभास ही है—'द लेंग्वेज ऑफ ट्रुथ इज पैराडोक्स'।

पुद्गल यानी गलत-मिलन स्वभाव

महावीर पुद्गल की परिभाषा करते हैं : वह जो गलता-ढहता है, आकार ग्रहण करता रहता है। द्रव्य की परिभाषा करते हैं : वह जिसमें गुण और पर्याय होते हैं। बात बड़ी सीधी है, लेकिन सारी जटिलताओं से गुजरकर पायी गयी है, गुजरकर ही पायी जा सकती है। मैटर वह है जिसका 'फ़ॉर्म' होता है बनता-मिटता रहता है। मैटर एक अलग चीज है, 'फ़ॉर्म' एक अलग चीज है। वह मैटर नहीं है। फ़ॉर्म के जो गुण हैं वे मैटर के नहीं हैं, लेकिन फ़ॉर्म मैटर का होता है। भौतिक विज्ञान पदार्थ के जिन गुणों को सन्दर्भ में लेता है वे 'फ़ॉर्म' के हैं, फ़ॉर्म के साथ बदलते रहते हैं। वे गुण 'मैटर' के नहीं हैं। 'मैटर' का

कोई गुण नहीं है। गुलाब के फूल की गन्ध, रसीले फल का स्वाद, मरमरी घास का स्पर्श, वाद्य-यन्त्र की मधुर ध्वनि, मोनालिसा की मोहक मुसकान—ये सब जुड़े हैं 'फ़ॉर्म' से। फ़ॉर्म आकार नहीं होता यद्यपि आकार या 'शेप' फ़ॉर्म का एक प्रकार है। फ़ॉर्म है परिवर्तन-क्रम की परिणति। परिवर्तन निरन्तर होता है अतः फ़ॉर्म बदलता रहता है। फ़ॉर्म एक अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति का माध्यम गुण या क्वालिटी होता है। क्वालिटी के बिना फ़ॉर्म नहीं हो सकता। फ़ॉर्म के बिना क्वालिटी नहीं हो सकती। जिसे भौतिक-विज्ञानवेत्ता अन्ततः शून्य-क्षेत्र 'फ़ील्ड' में घटनाओं के रूप में देखता है, वह भी फ़ॉर्म है। वह भी अभिव्यक्ति है। महावीर के शब्दों में वह भी 'पर्याय' है। गलना-ढहना, आकार ग्रहण करना, आकार-परिवर्तित करते जाना ये सब फ़ॉर्म के अन्तर्गत आते हैं, पर्याय के अन्तर्गत आते हैं। पर्याय पदार्थ की परिणति है, स्वयं पदार्थ नहीं। गलना-ढहना पुद्गल की परिणति है, स्वयं पुद्गल नहीं। अपने आपमें 'पुद्गल' क्या है ? पदार्थ क्या है ? हम नहीं जानते। विज्ञान तो गणितीय समीकरण सूत्रों तक जाता है, सूत्र फ़ॉर्म की सीमा पर रुक जाते हैं, उन्हें वहीं छोड़कर विज्ञान लौट जाता है। उसे नहीं जाना जा सकता, इसे वह स्वीकार कर लेता है।

भेद पदार्थ में है, ज्ञानी में नहीं

हर्बर्ट स्पेंसर ने दस भागों के एक महाग्रन्थ 'सिन्थेटिक सिस्टम ऑफ़ ऑल नौलेज' के अन्त में स्वीकार किया है कि जो सत्—'रियलिटी'—है वह अज्ञेय—'अननोएब्ल'—है। महावीर कहते हैं, यहाँ भी रुकने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के आयाम अनन्त हैं। डेमोक्रिट्स परमाणु पर आकर रुक गया था। रस, रूप, गन्ध, स्पर्श आदि प्रत्येक परमाणु में है, यह प्रतिष्ठापित कर मौन हो गया। परमाणु टूट नहीं सकता, अतः इससे आगे जानने को कुछ नहीं बचा है, यह मान लिया था उसने। आइन्स्टाइन ने परमाणु को तोड़कर नाभिक का चित्र दिया—धनाणुओं के चारों ओर घूमते ऋणाणुओं का एक लघु परिमण्डल—मिनियेचर सोलर सिस्टम। उससे आगे रास्ता नहीं है, उसने कहा। उससे भी आगे रास्ते खुले, कण—'पार्टीकल'—से तरंग—'वेव'; उससे आगे प्रमात्रा—'क्वाण्टम', उससे भी आगे अब घटनाएँ—इवेण्ट्स—हैं। अब कहा जाता है कि यह सारा लोक सूक्ष्मतम से विराटतम तक परस्पर-सम्बद्ध क्रिया-व्यापार का क्षेत्र—फ़ील्ड ऑफ़ रिलेटेड फंक्शन्स है। क्रिया-व्यापार भी तो फ़ॉर्म्स हैं। उनका भी तो अतिक्रमण होनेवाला है। फ़ील्ड भी तो एक 'कान्सेप्ट' है, प्रकल्पना है। हर 'कॉन्सेप्ट' एक फ़ॉर्म होता है—हर प्रकल्पना भी तो एक मानसिक आकार होती है। वह क्या है जिसके ये सब हैं लेकिन जो ये सब नहीं हैं ? म

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ

को जानना जरूरी है। उस एक को जान लिया, सब कुछ अपने आप जान लिया जायेगा। जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ—जो एक को जानता है वह सबको जानता है; जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ—जो सबको जानता है वह एक को जानता है। हम पिण्ड को जान लें ब्रह्माण्ड स्वयं ज्ञात हो जायेगा, ब्रह्माण्ड को जान लें, पिण्ड स्वयं ज्ञात हो जायेगा। भेद पदार्थ में है, ज्ञान में नहीं।

उद्देसो पासगस्स णत्थि

□

सुना है मैंने आयुष्मन्, उन भगवान् ने ऐसा कहा है, उद्देसो पासगस्स णत्थि—द्रष्टा को किसी भी उपदेश की आवश्यकता नहीं है। सुनने में यह बात सीधी-सपाट-सी लगती है, लेकिन बहुत गहरी है अपने आपमें। हम सत्य के प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं, अतः जानते ही नहीं कि सत्य क्या है और उसकी दृष्टि क्या है ? जहाँ भी हम सामान्य सन्दर्भों के पार देखने का प्रयास करते हैं, भौतिक दृष्टि के पार नहीं जा पाते। ऐन्द्रिय अनुभूतियों का संसार हमें शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध की संवेदनाओंके अलावा कुछ नहीं दे पाता। इनके माध्यम से यथार्थ को उसके भौतिक स्तरोंपर भी साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह जो ऐन्द्रिय-संवेदनोंके पटल पर प्रत्यक्ष होता है, वह स्वयं यथार्थ नहीं, अपितु उसका प्रभाव मात्र होता है जो इन्द्रियों में से गुजरने की प्रक्रिया में ही उनकी जैव-रासायनिक संरचना से प्रभावित होकर रूपान्तरित हो जाता है। अपनी वस्तुगत सत्ता खोकर रह जाता है मात्र एक छलनामय आभास, एक कुहेलिका। शंकर इसे माया कहते हैं, बुद्ध प्रतीत्याभास, जिससे टकराकर अन्ततः एडिंगटन और जेम्स जीन्स-जैसे वैज्ञानिकों की यथार्थग्राहिणी प्रज्ञा भी गतिरुद्ध हो चुकी है।

कसौटी क्या हो हमारे ज्ञान की ?

जिस रासायनिक संरचना को सारा बाह्य जगत् अपने में साकार किये है वही हमारे शरीर और इन्द्रियों की भी संरचना है, जो अपने चारों ओर के बाह्य जगत् के प्रभाव से स्वयं सतत परिवर्तनशील रहती है। जानने का सही माध्यम वही हो सकता है जो न तो जानने की वस्तु से प्रभावित होकर स्वयं परिवर्तित हो और न उसे जानने की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित कर सके। इस कसौटी पर हमारा शरीर और ऐन्द्रिय संस्थान खरा नहीं उतरता। जिसे महावीर देखना कहते हैं—यह इन्द्रियोंके जगत् की बात नहीं है; उसके पार की घटना है। अगर कहीं वह दृष्टि है तो ऐन्द्रिय आभासोंके माया-विश्व के पार जाने पर ही मिलती है। इसलिए महावीर का द्रष्टा पारंगमा—पार गया हुआ है, तीरंगमा—किनारे पहुँचा हुआ है, ओघंतरा—ऐन्द्रिय संवेदनों के समुद्र का अतिक्रमण कर चुका है। यह पार करना भी एक आभास ही है, सत्य नहीं। संसार का अतिक्रमण करना भी एक प्रतीति

है, वस्तुपरक घटना नहीं। वह जो विराट् समुद्र है, उसका किनारा है, किनारे की उपलब्धि है—सब भीतर ही है, बाहर कहीं नहीं। सुभूति ने जब बुद्ध से पूछा कि संसार के पार जाने का उपाय क्या है, तो बुद्ध हँसे और बोले—जिसे पार करना है वह संसार कहाँ है ? जो है वह तो हमें ज्ञात ही नहीं और जो ज्ञात है वह है ही नहीं—मात्र आभास है उसका, उसकी मूल वस्तुगत सत्ता से एकदम भिन्न। सत्य का द्रष्टा पारगामी ही होगा। पारगामी वही हो सकता है जो ऐन्द्रिय संवेदनों की छलनामयी सत्ता के प्रति सतत जागरूक है। यह जागरूकता ही बुद्ध की विपश्यना है। विपश्यना यानी देखना, मात्र देखना, निर्विकल्प भाव से देखना। महावीर की सामायिक यही है—राग-द्वेष विमुक्त प्रतिपल सतत जागरूकता। जे. कृष्णमूर्ति इसे निर्विकल्प संचेतना कहते हैं—'अवेयरनैस विदाउट-चॉइस'। इसका संकल्पपूर्वक सतत परिवर्द्धमान अभ्यास ही अतिक्रमण में निष्पन्न हो सकता है, ऐन्द्रिय संवेदनों की कुहेलिका के और उसके पार ही वह दृष्टि है जो सत्य को सीधे देखती है—उसकी मूल सत्ता में।

सत्य क्या है ?

हमारे वर्तमान शरीर एवं मन के स्तरों पर सत्य अकल्पनीय है, क्योंकि हम जिससे उसे मापने का प्रयास करते हैं वह ऐन्द्रिय प्रतीत्याभासों से बना गुणात्मक विश्व तो स्वयमेव ही असत्य है। उसके पार हम अभी तक पहुँच नहीं सके हैं। लेकिन बुद्धि की कसौटी पर ऐन्द्रिय संवेदनाओं का विश्लेषण इतना तो स्पष्ट कर ही देता है कि पदार्थ—सब्स्टेन्स के बारे में हमारी गुणात्मक अवधारणा सत्य नहीं है। पदार्थ जगत् के सारे रंगमंच, आकार, आयाम, स्पर्श, गन्ध, शब्द आदि अन्ततः ऐन्द्रिय अनुभूतियों में विलीन हो जाते हैं इन्द्रियों की देह-संरचना में और अन्ततः निर्जीव रासायनिक तत्त्वों की विविध संयोजनाओं में। गुणोंके पार जाने पर विविधताओं और पार्थक्यों की सत्ता नहीं रहती, क्योंकि सारे भेद-प्रभेद तथा वर्गीकरण गुणों के आधार पर ही होते हैं। अतः ऐन्द्रिय जगत् के पार जो सत्य है वह एक और अभिन्न सत्ता है। वह जो एक को उसकी मूलसत्ता में देख लेता है, सब रूप-रंगों में उसी के अस्तित्व को जानता है, जीवाजीव समग्र जगत् में उसी को पहचानता है और अपने भीतर-बाहर सर्वत्र उसी की प्रतीति करता है। वह जो दिखाई दे रहा है और वह जो देख रहा है—दोनों अन्ततः एक में ही परिज्ञात हो जाते हैं। इस एक को जाननेवाला सबको जानता है, सबमें उसी एक को पाता है जो कि वह स्वयं है। वह अपने में सबको तथा सबमें अपने को देखता है, गीता के शब्दों में। वह सारे पुत्रों को पिता में तथा पिता को सारे पुत्रों में देखता है, क्राइस्ट के शब्दों में। वह सर्वत्र उस एक प्रभुसत्ता को देखता है जो एक

है और अभिन्न है, पैग़म्बर मुहम्मद के शब्दों में। वह ताओ को परिज्ञात करता है जो अनादि अनन्त सत्ता है, लाओ-त्से के शब्दों में। वह उस एक को देखता है अनन्त पर्याययुक्त गुणात्मक सत्ता को, महावीर के शब्दों में। वह जो साक्षात्कार कर चुका है उस अद्वैत सत्ता का, पार कर चुका है ऐन्द्रिय संवेदनों को, कभी उसमें वापस नहीं लौटता, राग-द्वेषात्मक भावनाओं से आवद्ध होकर। संसार ऐन्द्रिय संवेदनों की माया में सत्य का अज्ञानमय बोध है जो समाप्त हो चुकने पर सत्ताशून्य हो जाता है सदा के लिए। अविद्या ही संसार है, विद्या निर्वाण। अपरिज्ञा ही संसार है, परिज्ञा निर्वाण। अपरिज्ञा की खूँटी पर ही राग-द्वेषात्मक अनुभूतियों के संस्कार टँगते जाते हैं, कर्म का वन्ध होता जाता है, प्रतिक्रिया-स्वरूप जन्म-मरण की परम्परा आगे बढ़ती जाती है। बुद्ध ने अन्ततः संवोधि प्राप्त की तो यही पाया कि वह विशाल भवन जिसमें वे अनन्त जन्मों से भटक रहे थे, मात्र अपरिज्ञा—अविद्या से निर्मित था, जिसे महावीर मोहनीय कर्म कहते हैं। इस एक को जीतकर मैंने पाँच इन्द्रियों को जीत लिया—गौतम ने मुनि केशि से कहा और पाँच को जीतते ही मैंने दस (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चार कपाय तथा मन) को जीत लिया और इन सबको जीतकर मैं अब निर्भय होकर सर्वत्र विचरण करता हूँ। ऋग्वेद के सृष्टि सूक्त में मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने कहा—तब इच्छा प्रकट हुई जो सृष्टि का बीज है। बुद्ध ने तण्हा—तृष्णा को संसार का बीज बताया। भेद तो शब्दों का है। मूल सत्य तो एक ही है और वह यह कि ऐन्द्रिय संवेदनों की छलनामयी गुंजलिका से विमुक्त व्यक्ति वीतरागता में स्वयं स्थित हो जाता है, अनासक्ति को सहज निष्प्रयास लब्ध कर लेता है, अतः संसार की कर्म-बन्धन-परम्परा से वह नित्य-विप्रमुक्त हो जाता है। उसे किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं। जो सबमें अपने को ही देखता है वह किसी की हिंसा नहीं कर सकता; किसी को दमित, पीड़ित, शोपित, प्रताड़ित, परितप्त एवं उद्वेलित नहीं कर सकता। वह जो राग-द्वेप से मुक्त है, किसी को वंचित कर धन का संग्रह नहीं कर सकता, किसी को पीड़ित कर सत्ता का विस्तार नहीं कर सकता, किसी को प्रवंचित नहीं कर सकता, किसी को भोग की सामग्री नहीं बना सकता। उसे अहिंसा और सत्य के उपदेशों की कोई आवश्यकता नहीं। लाओ-त्से ने ठीक ही कहा है—वह जो जानता है बोलता नहीं; और वह जो बोलता है जानता नहीं।

विचार क्या है ?

उपदेश विचारात्मक होता है। विचार गुणों की व्याख्या है, गुण ऐन्द्रिय संवेदनाओं के वर्गीकरण मात्र हैं और वे अपने आपमें आभास हैं, सत्य नहीं। जो सत्य नहीं उससे मापकर सत्य के अस्तित्व का निर्णय कैसे किया जा सकता

स्तर पर आत्म-प्रवंचक और लोक-प्रवंचक ही रह जाता है। नैतिकता अधिक से अधिक हमारे ऊपरी व्यवहार का ही संस्पर्श कर पाती है। भीतर का व्यक्ति वही का वही रह जाता है।

धर्म है मन का समूल परिवर्तन

धर्म ऊपरी आचरण को महत्ता नहीं देता यदि उसका स्रोत अन्तश्चेतना से सीधे न जुड़ा हो। ऊपरी आचरण के स्तर पर एक व्यक्ति सदाचारी और नैतिक हो सकता है। अन्तश्चेतना के स्तर पर वही व्यक्ति दुराचारी तथा अनैतिक हो सकता है। धर्म की कसौटी पर वह खरा नहीं उतरता। खलील जिब्रान ने लिखा है—कितने ही ऐसे झूठे हैं जिन्होंने एक भी झूठ नहीं बोला। कितने ही ऐसे हत्यारे हैं जिन्होंने एक बूँद भी रक्त नहीं बहाया। कितने ही ऐसे व्यभिचारी हैं जिन्होंने किसी नारी को छुआ तक नहीं। उपरोक्त सब व्यक्ति नैतिक हो सकते हैं, धार्मिक नहीं। धर्म अन्तश्चेतना की क्रान्ति है—मन का समूल परिवर्तन।

उपदेशों तथा आचार-संहिताओं, नियमों तथा दण्ड-व्यवस्थाओं द्वारा व्यक्ति का बाहरी व्यवहार परिवर्तित किया जा सकता है। उसकी प्रक्रिया भी दमनमूलक होती है। दमन से वृत्ति समाप्त नहीं होती, अचेतन में संचित होकर नाना प्रकार की विकृत मानसिक बीमारियों को जन्म देती है। योरोप के मध्ययुगीन ईसाई सन्त काम-दमन से विकृति-ग्रस्त होकर आत्मपीड़क (मैज़ोकिस्ट) बन गये। अपने को कोड़ों से पीटने, लोहे की कीलों पर सोने में काम-सुख अनुभव करने लगे। मार्क्विस द सादे का दमित काम परपीड़कता (सादिज़्म) में अपनी अभिव्यक्ति खोजने लगा। उसे दूसरों को चाकू से घायल और लहुलुहान करने, दाँतों से काटने तथा कोड़ों से पीटने में काम-सुख मिलने लगा। काम दमित होकर क्रूरता बन जाता है और इस रूप में अपने को या दूसरों को पीड़ित करने में अन्तर्मन को तृप्ति देने लगता है। अतः दमन की प्रक्रिया से धार्मिकता निष्पन्न नहीं हो सकती।

एक व्यक्ति तलवार से किसी को नहीं मारता क्योंकि विचार के स्तर पर उसका अहिंसा में विश्वास है। दमित हिंसा तलवार से उतरकर क़लम में आ जाती है। मारने के तरीक़े बहुत हैं। कोई किसी को क़लम से भी मार सकता है, भूख से भी मार सकता है, शोषण से भी मार सकता है, ग़रीबी से भी मार सकता है। हिंसा भीतर की नंगी स्वार्थ-वृत्ति है, दूसरों की जीवनसत्ता को तोड़कर भी अपनी जीवनसत्ता उसपर स्थापित करने की अहंकारमयी वृत्ति है। इसका उन्मूलन तभी हो सकता है जब अन्तश्चेतना के पटल पर कोई दूसरा रहे ही नहीं, सर्वत्र वह स्वयं ही प्रतीत होने लगे। वहीं अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की

आयंकदंसी ण करेइ पावं

□

सुना है मैंने आयुष्मन्, उन भगवान् ने ऐसा कहा है, आयंकदंसी ण करेइ पावं—आतंकदर्शी पाप नहीं करता। आतंक सर्वव्यापी है। हम पाप करते हैं क्योंकि उसे नहीं देखते। उसके प्रति मूर्च्छित हैं हम। अगर जाग्रत् होते उसके प्रति, तो पाप नहीं कर सकते थे।

मृत्यु : एक भयंकर सत्य

प्रकृति ने जीवन का एक भयंकर सत्य हमारे समक्ष रखा है। वह है मृत्यु। अगर मृत्यु नहीं होती तो शायद दर्शन का जन्म ही नहीं होता। मृत्यु अन्त है जीवन की सारी उपलब्धियों का। आदमी जीवन-भर जूझकर धन, ख्याति-सत्ता सब कुछ पाता है लेकिन मृत्यु अन्त कर देती है उसके लिए इन सबका। मृत्यु एक शाश्वत प्रश्न-चिह्न है उन सब भौतिक उपलब्धियों पर जो आदमी बाहर के जगत् में पाता है। वह मिटा देती है बाहर की उपलब्धियों का संसार। मृत्यु बिन्दु है अन्त का। वहाँ से प्रारम्भ होता है अनन्त शून्य, शाश्वत रिक्तता। समस्त भौतिक लब्धियों का अस्तित्व जहाँ सहसा अनस्तित्व में बदल जाता है; जीवन-भर की साधना जहाँ 'नहीं' बन जाती है, जीवन-भर का अर्जन जहाँ अर्थहीन बन जाता है, सुख का आकर्षण और दुःख का विकर्षण जहाँ रहता ही नहीं। वह अतल शून्य ही होता तो भी सन्तोष पा सकता था आदमी। लेकिन वह शून्य भी नहीं है। वह शून्य है जीवन की भौतिक उपलब्धियों का। लेकिन आत्मा रहती है उसके पार भी। कर्म रहते हैं उसके पार भी। कर्म ही रहते हैं, उनसे जो पाया गया वह नहीं रहता। मात्र कर्म की नंगी सत्ता रह पाती है, मरण के पार आत्मा के साथ उसे आवृत्त किये हुए। भौतिक देह, जिसके लिए आदमी सब कुछ करता है, अन्ततः राख में मिल जाती है लेकिन जो किया गया वह रहता है, उसकी प्रतिक्रियाएँ रहती हैं, उनमें आवरणों से आवृत चेतना की विकृत वेदनामयी स्थिति रहती है और अपरिहार्यतः रह जाता है पूर्वकृत कर्मों के आवरणों का समवाय जो आत्मा को अपने परिणामों से पीड़ित करता जाता है। यही आतंक है महावीर के शब्दों में।

पवित्रता का हेतु

साम्योपनिषद् में लिखा है : मृत्यु की स्मृति पवित्र करती है मन को। श्मशान में जाकर क्रूर और कठोर हृदय व्यक्ति भी पल-भर के लिए पश्चात्ताप करने के लिए विवश हो जाता है, वह धिक्कारता है अपने दुष्कर्मों के लिए स्वयं को और परिष्कृत होता है भीतर से। मृत्यु की सर्व भयदायिनी नंगी सत्ता का साक्षात्कार बड़ा आतंकमय होता है। साक्षात्कार के उन क्षणों में अर्थहीन हो जाते हैं सारे सुख-दुःख, राग-द्वेष के जंजाल। विरक्त हो जाता है मन उनकी माया से। मृत्यु के आतंक का सतत दर्शन ही चेतना को रूपान्तरित करता है।

राजर्षि भरत के पिता भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। एक बार उन्होंने कहा—भरत इसी जीवन में मुक्ति पायेगा। किसी ने कह दिया—आप तीर्थंकर है तो बेटा मुक्ति पायेगा ही। भरत ने उसे बुलाकर उसके हाथ पर तेल से लबालब भरा प्याला रख दिया और आज्ञा दी कि उसे सारे नगर में घुमाया जाये तथा तेल की एक बूंद भी जहां प्याले से छलककर गिरे तत्क्षण वहीं उसका सिर काट लिया जाये। उस दिन नगर को सजाया गया, स्थान-स्थान पर मनोरंजन कार्यक्रम रखे गये, सारे ऐन्द्रिय सुखोपभोग की सामग्रियां सर्वत्र प्रस्तुत की गयीं। वह व्यक्ति शाम तक घूमकर वापस आया। भरत ने पूछा—नगर में आज नृत्य-गायन हो रहे थे, तुम्हें कैसे लगे? चौराहों पर भव्य वस्त्राभूषण सुसज्जित गणिकाएँ नृत्य कर रही थीं, कैसी लगीं तुम्हें? फूलों के तोरण-द्वार सजे थे, उनकी सुगन्ध पसन्द आयी? स्थान-स्थान पर मल्ल-युद्ध और क्रीड़ाएँ हो रही थीं, अच्छी लगीं तुम्हें? उसने कहा—मैं तो मौत के अलावा कुछ भी न सुन रहा था, न देख रहा था, न अनुभव कर रहा था। अतः सबके मध्य गुज़रकर भी कुछ सुख-दुःखात्मक अनुभूति नहीं कर पाया, आकर्षण-विकर्षण की प्रतीति नहीं कर पाया। भरत ने कहा—मैं अमर हूं क्या? क्या मुझे मौत दिखाई नहीं देती? तुम्हारे जैसी ही स्थिति मेरी भी है। प्रतिपल जैसे तुम्हारे मस्तक पर झूल रही थी मेरी तलवार, वैसे ही मेरे मस्तक पर भी मौत की तलवार झूल रही है। मैं इसे सतत स्मरण रखता हूँ। अतः राज्य करता हुआ भी मैं नहीं करता, सुख भोगता हुआ भी नहीं भोगता, कर्म करता हुआ भी नहीं करता।

कर्म मात्र हेतु है बन्धन का

यही अकर्म है। गीता में अकर्म पर सूक्ष्म चिन्तन मिलता है। वह और अकर्म की महावीर कृत मीमांसा एक ही है। भेद शब्दों का है जो देश-काल सापेक्ष होते हैं। निरपेक्ष होता है सत्य। कर्म है राग-द्वेष। अकर्म है उनमें मुक्त

होकर क्रिया-प्रतिक्रिया के जागतिक क्रम से अस्पृष्ट ही गुजर जाना। जो सतत मृत्यु का आतंकदर्शी है वह स्वतः ही दूर रहता है सारे राग-द्वेषात्मक वस्तु-केन्द्रित आकर्षण-विकर्षणों की सत्ता से। वह स्पष्ट अनुभव करता है कि ये सब नाशवान् हैं और स्वयं वह भी क्षणभंगुर है। वह जान रहा होता है कि ये सब मिट जायेंगे, शेष रहेंगे कर्म। अगर कुछ शुभ संचित हो सकता है तो वह सुकर्म ही होगा। लेकिन वह भी बन्धन है, जंजीर है कर्मों की। जंजीर सोने की हो या लोहे की, वह बांधती है। अतः मृत्यु के पार जाने का उपाय है जीवन के पार जाना। जीवन के पार जाने का उपाय है कर्म के ही पार चले जाना। कर्म के पार चले जाने का उपाय है राग-द्वेष के ही पार चले जाना और उसका उपाय है मृत्यु की शाश्वत सत्ता का सतत दर्शन।

मूर्च्छा है पाप का मूल

पाप क्या है? एक ही है पाप, वह है हिंसा। हिंसा मारना ही नहीं है। वह है दूसरों को कुचलकर, उसे नकारकर आगे बढ़ने की स्व-केन्द्रित स्वार्थ-वृत्ति। हर प्राणी दूसरे की मृत्यु पर जीने का प्रयास करता जा रहा है, पीड़ित है, अत्याचार ग्रस्त है, शोषित है और एक-दूसरे को करता जा रहा है शोषित, पीड़ित, परितप्त और उद्विग्न। सब शोषक हैं, शोषित भी हैं। सब पीड़क हैं एक-दूसरे के तथा एक-दूसरे के द्वारा पीड़ित भी हैं। पास लोए महब्भयं—लोक में भयंकर आतंक है, इसे देखो। जो इसे देखता वह जानता है कि मारने का अर्थ मरना है, पीड़ित करने का अर्थ पीड़ित होना है, परितप्त करने का अर्थ स्वयं परितप्त होना है, शोषण करने का अर्थ स्वयं शोषित होना है। वह जो स्पष्ट द्रष्टा है लोक का खुली आँखों से, वह आतंकदर्शी है और वह पाप नहीं कर सकता।

क्राइस्ट को क्रॉस पर चढ़ाया गया तब उसने कहा था—'पिता! इन्हें क्षमा कर दें क्योंकि ये नहीं जानते हैं कि क्या कर रहे हैं।' यह जीवन का एक महान् सत्य है। पाप का जनक है नहीं जानना—कर्म और उसके फल को, भीतर से संवेदना के स्तर पर। बुद्धि के स्तर पर जानना कोई माने नहीं रखता। ज्ञान और अज्ञान की मूल सत्ता है अन्तरानुभूति में। यह अज्ञान, जिसे महावीर मूर्च्छा कहते हैं, जनक है पाप का। इसका टूटना, अर्थात् लोक-पीड़ा का सतत आतंक-बोध उपाय है पाप की सत्ता के अतिक्रमण का, सदा के लिए।

आय-तुले पयासु

□

सुना है मैंने आयुष्मन्, उन भगवान् ने ऐसा कहा है, आय-तुले पयासु—आत्म-तुल्य समझो समस्त प्राणियों को। जैसी भावना हम अपने प्रति रखते हैं, वैसी ही दूसरे के प्रति भी रखें, तो हिंसा से दोनों प्रकार से बचा जा सकता है—न दूसरे के प्रति स्वयं की हिंसा, न स्वयं के प्रति दूसरे की हिंसा।

यह बात महावीर ने कही है, उससे पूर्व कृष्ण ने भी कही है, उससे भी पूर्व उपनिषदों में अनेक सत्य-साधकों ने कही है। ईसा मसीह, कॅनफ्यूशियस, लाओत्जे, बुद्ध आदि सबने लगभग इन्हीं शब्दों में इस बात को प्रज्ञपित किया है। धर्म का सार तत्त्व इसे माना गया है। यह बात सुनने में बड़ी सरल-सी लगती है किन्तु अन्तर भावना के स्तर पर इसकी प्रतीति तथा जीवन के समग्र आचार-व्यवहार के स्तरों पर इसकी अनुभूति बड़ी कठिन है। ऊपर से देखने पर यह बात बहुत पुरानी लगती है लेकिन इससे अनुप्राणित होने पर व्यक्ति पूरा का पूरा नया हो जाता है। यह महावीर के भावना-योग का श्रेष्ठतम सूत्र है जो अन्तः-क्रान्ति का बीज है।

बहुधा मैं देश के धर्म-गुरुओं तथा राजनेताओं को यह कहते सुनता हूँ कि देश में चरित्र का संकट है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मानव मात्र नैतिक है, चरित्रवान् है। कोई भी नहीं है चरित्रहीन या अनैतिक। चरित्र स्वभाव है और स्वभाव-शून्य किसी भी प्राणी या वस्तु की सत्ता होती ही नहीं। मानवता-शून्य मानव की मैं कल्पना भी नहीं कर पा रहा हूँ। इसके उपरान्त भी मेरी आंखों के आगे मानव द्वारा मानव के शोषण, पीड़न और प्रवंचन के अगणित दृश्य तैर रहे हैं जिन्हें मैं झुठला नहीं सकता, न झुठलाना चाहता हूँ।

विलक्षण विरोधाभास

समस्या है मानव द्वारा मानव के ही शोषण की, उसके अतिक्रमण की, उसके उत्पीड़न की, उसके ऊपर अत्याचार की, उसकी सत्ता के उल्लंघन की, उसके हित के विखण्डन की, उसकी उपेक्षा की। इसका कारण हमें प्रतीत होता है चरित्रहीनता। यह हमें मानव द्वारा मानव के साथ व्यवहार में स्पष्टतः दिखाई देती है। लेकिन चरित्रहीनता यदि मानव के स्वभाव का अंग है तो सबके साथ

व्यवहार में प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। फिर वह औषधि विक्रेता जिसके नक़ली दवा के इन्जेक्शन्स से लाखों बच्चे मरे हैं, अपने इकलौते बेटे के बीमार पड़ने पर असली दवा की खोज में क्यों भटकता दिखाई दे रहा है ? इसलिए कि उसकी संवेदना उससे जुड़ी है, उसके ममत्व की परिधि में वह अवस्थित है। इस परिधि के भीतर वह नक़ली दवा का व्यापारी, जिसने पैसे के लिए लाखों बच्चों की निर्ममतापूर्वक हत्या की है, इस बच्चे की हत्या नहीं कर सकता। ग्राहकों से निरन्तर झूठ बोलनेवाला दूकानदार अपने बेटे का झूठ बोलना सहन नहीं कर सकता। हज़ारों औरतों का शील लूटनेवाला विलासी धनपति अपनी बहन पर किसी की कलुषित दृष्टि भी सहन नहीं कर सकता। बदनाम कोठे पर रहनेवाली वेश्या अपनी बेटी को अपने जैसा बनने देना नहीं चाहती। मानवीय संवेदना का एक घेरा है जिसके भीतर नक़ली दवा का व्यापारी, ग्राहकों को ठगनेवाला दूकानदार, नारियों को क्रीड़ा-सामग्री बनानेवाला विलासी धनपति, बदनाम कोठे में जानेवाली वारवनिता सब निर्विशेष मानव हैं। प्रेम और करुणा, सच्चरित्रता और नैतिकता से अनुप्राणित हैं। उस घेरे के बाहर वे चरित्रहीन हैं, भ्रष्ट हैं, सब कुछ हैं जो कि उन्हें नहीं होना चाहिए।

संकट है संकीर्ण घेरों का

संकट संवेदना के इन घेरों का है जो व्यक्ति और उसके परिवार तक सीमित है, उसके बाद वे क्षीणतर होते जाते हैं। जहाँ समाज और परिवार का टकराव आता है, व्यक्ति परिवार के साथ हो जाता है। जहाँ देश और समाज का टकराव आता है व्यक्ति अपने समाज के साथ हो जाता है। जहाँ अपने देश और दूसरे देश का टकराव आता है, व्यक्ति अपने देश के साथ हो जाता है। घेरे एक पर एक हैं लेकिन उनका केन्द्र व्यक्ति का अपना अहं है। उसकी संवेदना केन्द्र से परिधि की ओर जितनी दूर तक जाती है, उतनी ही क्षीण होती जाती है। हर बड़े घेरे की तुलना में छोटे घेरे में उसका आवेश तीव्रतर रहता है। लेकिन उसका अभाव कहीं नहीं है। उसके स्तरों में गहरी विषमता है लेकिन अपनी मूल प्रकृति में वह शुद्ध स्व की संवेदना है।

उपनिषदों में एक बड़ा सुन्दर प्रसंग इस विषय में आता है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या के सन्दर्भ में कहते हैं : "पति पत्नी को इसलिए प्यार नहीं करता कि वह पत्नी है अपितु इसलिए करता है कि वह उसमें अपना स्व देखता है।" यही बात पत्नी, पुत्र, परिवार सब पर लागू होती है। स्व का जितना फैलाव है, उतना व्यक्ति प्रेममय है। उसके बाहर वह उपेक्षामय है। स्व की संवेदना में हर व्यक्ति के अस्तित्व का स्वीकार है. उसके बाहर नकार है।

अस्तित्व का नकार ही है हिंसा

हिंसा दूसरे के अस्तित्व का नकार है, उसके अस्तित्व की उपेक्षा है, उसके अस्तित्व की गरिमा का उल्लंघन है और यह स्व-संवेदना की परिधि के बाहर घटित है। हिंसा प्रहार नहीं है, आक्रमण नहीं है, प्राणहरण नहीं है, शोषण और उत्पीड़न नहीं है। ये सब हिंसा की परिणतियाँ हैं। हिंसा है अपने स्व का दूसरे के स्व पर उसकी सत्ता को एकदम नकारते हुए आरोपण। अपने स्व की परिधि में तो कोई दूसरा होता नहीं, उसके बाहर होता है। परिणामतः संवेदना के घेरे के भीतर हिंसा का अस्तित्व नहीं होता, उसके बाहर होता है। अतः हिंसा के उन्मूलन का एकमात्र उपाय है संवेदना को उसके घेरों से मुक्त कर सर्वव्यापी आयाम देना। घेरों के स्तर भेद वहीं समाप्त हो सकते है, उनका एक दूसरे से टकराव वहीं मिट सकता है जहाँ समस्त घेरे समाप्त हो जाते हैं और मानवीय संवेदना सर्वत्र एक-सी गहराई में परिव्याप्त हो जाती है। आत्मीय और अनात्मीय का द्वैध जहाँ निःशेष हो जाता है वहाँ अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और सत्य की प्रतिष्ठा स्वयमेव अन्तःस्फूर्त होकर विना किसी आचारसंहिता को पढ़े-सुने हो जाती है।

संवेदना का विस्तार ही अहिंसा का विकास

मानव-प्रजाति का इतिहास साक्षी है कि विकास की प्रक्रिया में संवेदना का विस्तार हुआ है। दस लाख वर्ष पूर्व का चीनी मानव भूख लगने पर समीप सोयी पत्नी को मारकर खा जाता था और उसे ऐसा कुछ भी अनुभव नहीं होता था कि उससे कुछ बुरा हुआ है। जावा मानव तक आते-आते मानव की संवेदना का इतना जागरण हुआ कि वह नरभक्षी नहीं रहा। आगे चलकर मानव की अनेक जातियों में एक साथ रहनेवाले मानव आपस में एक दूसरे का खयाल रखने लगे, शिकार मिल-बाँटकर खाने लगे, बच्चों की देखभाल करने लगे। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार आठ हजार वर्ष पूर्व का मानव हमारा पूर्वज था। हम उसी प्रजाति के हैं। पूर्व और उत्तर प्रस्तरयुगीन सभ्यताओं में उसने पारिवारिक जीवन, स्थायी यौन-सम्बन्ध, बच्चों के प्रति ममत्व का विकास किया। पाँच हजार वर्ष पूर्व धातुयुगीन महान् सभ्यताओं का उदय हुआ। संवेदना के स्तर पर यह आदमी हमारे बराबर ही था। असीरिया और बेबीलोनिया, मिश्र और भारत के तत्कालीन अभिलेखों में पारिवारिक और सामाजिक भावना के दर्शन होते हैं। उसके बाद आज तक का विकास बहुत सूक्ष्म स्तरों पर हुआ है, तीव्रता से हुआ है। कृष्ण से महावीर और बुद्ध तक मानवीय संवेदना पशुओं के मांस-भक्षण के प्रति विद्रोह करती रही जिसकी परिणति अहिंसा के सिद्धान्त में हुई। जैनों की परम्परा

से वैदिक परम्परा में शाकाहार तथा अहिंसा वैष्णव धर्म के रूप में आयी। जी
सत्ता के साथ अपने स्वर के तादात्म्य की संवेदना ही इसका मूल कारण रही है।
अहिंसा अपने सारे स्तरों पर इसकी अभिव्यक्ति मात्र है, अनिवार्य निष्पत्ति है।

जीवन सत्ता एक है

महावीर इसी बिन्दु का स्पर्श यहाँ करते हैं। हमारा स्व सारे मानवों के साथ ही नहीं अपितु सारे जीवों के साथ तादात्म्य की संवेदना में आबद्ध हो तभी हिंसा का अन्त होगा। हमारा स्व अपने में जीवन-सत्ता है और यही जीवन-सत्ता सारे प्राणियों में है चाहे वह एककोषीय अमीबा हो या सैकड़ों फ़ीट लम्बी ह्वेल मछली, छोटा-सा कीड़ा हो या विशालकाय हाथी, घास की पत्ती हो या ज़िन्दा इनसान। जीवन-सत्ता अनन्त रूपों में प्रकाशित हो रही है, लेकिन अपनी गुणात्मक सत्ता में वह एक है, अविभाज्य है, अभेद है। यही महावीर के एकात्मक सूत्र 'एगे आया' का भावार्थ है। यह अनुभूति का सत्य है, निरी वस्तु-जगत् की सत्ता नहीं। यह पूर्णतः प्रत्यक्ष है, संवेदना के चक्षुओं से देखा जा सकता है, इसे देखना ही अन्तःक्रान्ति का सूत्र है।

मानवीय संवेदना का समस्त घेरे तोड़कर सार्वत्रिक समस्तरीय विस्तार ही समाधान है सारी समस्याओं का, हार्द है नैतिकता और सदाचार का, सूत्र है अन्तःक्रान्ति और लोकजीवन की उत्क्रान्ति का। इसकी साधना ही महावीर का भावना-योग है, कृष्ण का समत्व योग है, बुद्ध की करुणा है, ईसा मसीह का प्रेम है, कॅनफ़्युशियस की संगति है, लाओ-त्जे का ताओ है, सुकरात का आत्म-दर्शन है, टालस्टाय का 'प्रभु का राज्य' है। इसी में निहित है अध्यात्म की अन्तःजागरण-मूलक क्रान्तिकारी संचेतना जो मानवीय व्यक्तित्व को सम्पूर्णतः रूपान्तरित कर आदिम पशु को देवत्व के धरातल पर ला खड़ा करती है—नवजात शिशु-सी पवित्रता और सरलता से प्रदीप्त।

०

मेत्तिं भूएसु कप्पए

□

सुना है मैंने आयुष्मन्, उन भगवान् ने ऐसा कहा है, अप्पणा सच्च मेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए—अपने में सत्य को खोजो । सब प्राणियों के मित्र बनो ।

हम मैत्री को एक सम्बन्ध के रूप में स्थापित करते हैं । सम्बन्ध का अर्थ है बांधना । हम अपने को दूसरों से बांधते हैं, दूसरों को अपने से । वह जो बांधा गया है, कभी खुल भी जायेगा । वह जो स्थापित हुआ है, कभी विस्थापित भी हो जायेगा । वह जो जोड़ा गया है, कभी टूट भी जायेगा । सम्बन्ध बन्धन है, एक का एक से । हजारों के साथ होकर भी वह अलग-अलग एक का एक से ही रहता है । वह बन्धन समान रुचियों, सामूहिक स्वार्थों का है । उनकी टकराहट भी होती है तो उसे दबा लिया जाता है, उससे बड़े स्वार्थ के सामूहिक संरक्षण के लिए, जो प्रत्येक के लिए उसका निजी है । सम्बन्ध में सामूहिकता होने पर भी उसकी भावभूमि वैयक्तिक ही होती है । संवेदना के वैयक्तिक होने पर भी उसकी भावभूमि सार्वभौम होती है । कारण बहुधा हर समूह में व्यक्ति अपने को अकेला पाता है । ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनमें सारा समूह अपने को पाता है और जो अपने को सारे समूह में पाते हैं । वह जो बाहर से जुड़ा है भीतर से अब भी कटा हुआ है, लेकिन वह जो भीतर से जुड़ा है, बाहर से जुड़ा न होने पर भी कटा हुआ नहीं है । सम्बन्ध इसी कारण कठोर होकर भी टूट जाते हैं जबकि संवेदना कोमल होकर भी अटूट रहती है । अगर मैत्री सम्बन्ध है तो वह सदा खतरे में है, कभी भी टूट सकता है । लेकिन अगर वह संवेदना है तो अटूट है ।

मैत्री स्वभाव है

मैत्री हमारा स्वभाव है । वह हमारा 'होना' है, होने की स्थिति (बीइंग) है न कि प्रक्रिया—बिकमिंग । प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, अन्त भी होगा ही । लेकिन स्थिति सनातन है । उसमें 'स्व' और 'पर' की पृथक् सत्ताएँ नहीं होतीं । सारी भेद-रेखाएँ विभाव में ही दिखाई पड़ती हैं । स्वभाव तो अभेद, एकत्व से सतत संयुक्त है । वह जो हम नहीं है, उसी में हमारे होने के भ्रम से सारे भेदोपभेद निष्पन्न होते हैं । वहीं से सारे संघर्षों का जन्म होता है, अमैत्री का

उद्भव होता है। वह जो हम हैं उसे देखकर अगर पहचान लेते हैं, उसमें स्थित हो जाते हैं जो हमारा स्वभाव है तो कोई दूसरा रहता ही नहीं। 'तुम' और 'वह' समाप्त होकर जहाँ मैं ही शेष रह जाता है, चेतना की वह स्व-स्थिति ही भावना के स्तर पर मैत्री, वृत्ति के स्तर पर अहिंसा एवं जीवन के सारे भौतिक-मानसिक स्तरों पर संयम के रूप में निष्पन्न होती है। उस परम चेतना में न हम हैं, न अन्य है, मात्र समग्र है, सारे सन्दर्भों से मुक्त, सारी सीमाओं से परे। सीमा को जानना ही असीम में प्रवेश है, असीम में प्रवेश ही स्व का साक्षात्कार है, स्व का साक्षात्कार ही प्रेम है, मैत्री है, सम्बन्ध के रूप में किसी या किन्हीं के साथ नहीं, स्वभाव के रूप में सर्वत्र सबसे, अव्याबाध एवं अखण्ड चेतना का अपने से अपने में अन्तहीन प्रभाव।

मैत्री में किसी से जुड़ने की चेतना होती ही नहीं क्योंकि वहाँ अलगाव है ही नहीं, टूटन है ही नहीं, अतः जुड़ने की कल्पना भी नहीं रहती। हम अपने आपसे कैसे जुड़ सकते हैं? कैसे टूट सकते हैं? मैत्री हमारा वह आत्मभाव है जिसे न पाया जा सकता है न खोया, न बनाया जा सकता है न मिटाया, न जोड़ा जा सकता है न तोड़ा, न स्थापित किया जा सकता है न विस्थापित। वह किसी के साथ किसी की नहीं होती क्योंकि उसके होने पर न 'मैं' रहता हूँ, न 'वह' रहता है, वही रहता है जो कि 'है' ध्रुव नित्य एवं शाश्वत।

मित्र शब्द सूर्य के लिए

वेदों में मित्र शब्द सूर्य के लिए आया है। सूर्य सबका मित्र है। वह सबको समान रूप से प्रकाश देता है चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, भला हो या बुरा, मित्र हो या शत्रु। उसी प्रकार जिसके अन्तःकरण में जीवन के प्रकाश की धारा सबके प्रति सतत प्रवाहित रहती हो वही मित्र हो सकता है। समग्र मानवता के लिए वह आत्मिक ज्योति का सूर्य ही होता है। ईसामसीह ने भी अपने गिरि-प्रवचन (सर्मन ऑन द माउण्ट) में सूर्य की इसी विशेषता को सम्पूर्ण जीव-जगत् के प्रति परमात्मा के असीम प्रेम का परिचायक माना है तथा हमें उसी की तरह होने की प्रेरणा दी है।

सूर्य समबुद्धिता का प्रतीक है। यह समबुद्धिता ही मैत्री में जब निष्पन्न होती है तो वह बाह्य परिस्थितियों से अप्रतिबद्ध, अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं से निरपेक्ष होने के कारण ध्रुव एवं अटल, निर्द्वन्द्व एवं अबाध होती है। गीता में कहा गया है कि जो सबके प्रति एवं सर्वत्र समबुद्ध है वह 'सर्वभूत हितरत'—सब प्राणियों के हित में सदा संलग्न रहता है, सबका मित्र होता है।

कोई पराया नहीं है मैत्री में

दूसरों के साथ हमारी मैत्री को स्थायी आधार तभी मिल सकता है जब हमारी अपने साथ मैत्री सुप्रतिष्ठित हो चुकी हो। जो अपना मित्र है वह हर किसी का मित्र ही होगा। जो अपना मित्र नहीं है वह किसी का मित्र नहीं हो सकता। स्व ही अपनी असीम सत्ता में सर्व है, पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है। जो दूसरों का मित्र नहीं है, जान लेना चाहिए कि वह अपना भी मित्र नहीं है। महावीर ने इस बात को अनेक बार कहा है कि आत्मज्ञान एवं मैत्री परस्परावलम्बी हैं, युगपत् हैं। जब तक जीवमात्र के प्रति मैत्री की संवेदना से हमारा चित्त भावित नहीं हो जाता, हम आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकते। अमैत्री ही अशान्ति है, अनिर्वाण है। उसकी जड़ें वेदना में डूबी है जो कर्म है, बन्धन है। मैत्री ही इसे तोड़ सकती है। उसी से वेदना के प्रति हमारा ममत्व-निर्ममत्वपूर्ण भावबन्ध टूटता है। तभी द्वार खुलता है निर्वेद का जो आत्म-साक्षात्कार की अनिवार्य भूमिका है। दूसरी ओर मैत्री आत्म-साक्षात्कार की ही भावाभिव्यक्ति है। जब तक हम अपने को दूसरों में तथा दूसरों को अपने में नहीं देख पाते, चैतन्य की उस विराट् सत्ता का साक्षात्कार नहीं कर पाते, उससे तदात्मीभूत नहीं हो जाते, जहाँ 'पर' की सत्ता समाप्त हो जाती है, 'स्व' ही रह जाता है अपने में और दूसरों में भी, सबको अद्वैत ऐक्य में बाँधनेवाली भावस्थिति के रूप में तब तक मैत्री सम्बन्ध ही बन सकती है, संवेदन नहीं, क्षर ही रह पाती है, अक्षर नहीं हो पाती।

मैत्री समग्र के साथ समग्र की महाभावमयी चेतना है, खण्डित एवं एक-पक्षीय सम्बन्ध या भावना नहीं। इस दृष्टि से मैत्री को महावीर ने जिस अर्थ में लिया है उसे राग एवं द्वेष, आकर्षण एवं विकर्षण, सामीप्य एवं दूरी, सम्बन्ध एवं असम्बद्धता के द्वैत से पृथक् कर देखना होगा। अपने में ही अपने प्रति मैत्री का स्रोत खोजना होगा। वह खोज लेंगे तो हम अपने और सबके मित्र होंगे, अन्यथा किसी के कुछ भी नहीं हो पायेंगे।

०

एस वीरे पसंसिए…

□

सुना है मैंने आयुष्मन्, उन भगवान् ने ऐसा कहा है, एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए—"वह वीर प्रशंसनीय है जो दूसरों को बन्धनों से मुक्त करता है।" हमारे वीरता के मान-दण्ड पृथक् हैं महावीर की वीरता के मान-दण्ड से। हम उसे मानते हैं वीर जो अधिक से अधिक व्यक्तियों को बन्धन में रखता है, अधीन रखता है, उनके सिर पर पैर रखकर खड़ा रहता है तथा अपनी सत्ता से उन्हें दमित रखता है। लेकिन महावीर दूसरी ही बात कहते हैं—वह जो बद्ध हैं, उनको भी मुक्त करनेवाला वीर है।

कौन होता है वीर ?

हमारा इतिहास सिकन्दर, सीज़र, चंगेज़, नेपोलियन जैसे वीर सम्राटों की गौरव-गाथाओं से भरा है। इनकी वीरता का मापदण्ड है सत्ता का प्रसार, साम्राज्य का विस्तार, अपनी शक्ति द्वारा दूसरों का दमन। इनकी वीरता की अभिव्यक्ति है सत्ता के बन्धनों का विस्तार—दासता की जंजीरों का प्रसार। जो व्यक्ति शक्ति के द्वारा जितने अधिक व्यक्तियों को जंजीरों में जकड़ पाया, वह उतना ही वीर माना गया। जिसके हाथों ने जितना अधिक मानवीय रक्त बहाया वह उतना ही वीर माना गया। जिसके अत्याचार से लोग जितने अधिक पीड़ित हुए वह उतना ही वीर माना गया। सिकन्दर की वीरता के प्रतीक हैं ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस के जलते राजमहल, शील-अपहृता राजकुमारियाँ और रानियाँ, कार्थेज नगर में खड़े लाशों के पहाड़। चंगेज की वीरता के प्रतीक हैं मध्य और उत्तर-पश्चिम एशिया के धूल-धूसरित हजारों महानगर जिनकी सभ्यता से उसे और उसके कबाइली मंगोलों को घृणा थी। कुल मिलाकर वीरता रक्तपात पर पली, पाशविक अत्याचार में अट्टहास कर हँसी, दमन और दासता में व्याप्त हुई। श्रेष्ठता का मापदण्ड रहा मारना न कि बचाना, बांधना न कि मुक्त करना, दबाना न कि निर्बन्ध करना, पीड़न न कि पीड़ा-मुक्ति। सत्ता वीरता की प्रतीक रही न कि स्वतन्त्रता। महावीर यहाँ एक नयी बात कहते हैं—वीर वह है, प्रशंसित है वह जो स्वयं बन्धन-मुक्त तो है ही, दूसरों को भी बन्धन-मुक्त करता है। वीर है वह, जो स्वयं तो पूर्णतः स्वतन्त्र है ही, दूसरों को भी स्वतन्त्र

वह वीर नहीं कमजोर है, कायर है।

कायर शब्द 'कातर' से निकला। कातर वह होता है जो व्याकुल हो जाता हो, जो वेचैन हो जाता हो, झेल नहीं पाता अपने पर किसी क्रिया का प्रभाव। सिकन्दर जब मित्र के परिहास-वचन से उद्विग्न होकर उसे मार डालता है तब वह कातर है, व्याकुलता की उस सीमा तक पहुँच गया है जबकि उसे होश ही नहीं है अपना और अपने कृत्य का। उसमें और उस पागल गोपालक में क्या अन्तर है जो वेल गुम हो जाने पर ध्यानस्थ महावीर को मारने दौड़ता है ?

रोग हैं सारे आवेग

मनोविज्ञान की कसौटी पर आवेग स्नायविक दुर्वलता प्रमाणित होता है; तज्जनित संवेदनशीलता रोग प्रमाणित होती है। इनमें वीरता कहाँ ? वीर वह है जो क्रॉस पर टँगा हुआ भी अपनी वेदना को अम्लान चित्त से जी रहा है। क्या मैं वह प्याला नहीं पीऊँगा जो पिता ने मेरे लिए भेजा है ?" वह अपने शिष्य पीटर से पूछता है। अपने शरीर से साढ़े तीन गुणा वजनी क्रॉस जिस पर उसे ही वर्वर यन्त्रणामय विधि से लटकाकर मारा जानेवाला है, वह स्वस्थ और आवेग-शून्य चित्त से ढोता है, दो वार वेहोश होकर गिर जाता है, फिर भी किंचित् मात्र भी रोप नहीं है उसके मन में। "यह शरीर दुर्वल है यद्यपि आत्मा इच्छुक है इसे अन्त तक ढोने के लिए," वह रोमन सैनिक टुकड़ी के अधिपत्ति से कहता है जो उसे मरण-स्थल की ओर ले जा रही है। इस परम विनम्र, आवेग-शून्य और प्रशान्त चित्त में इतनी वीरता भरी है जो शरीर की सीमाओं का अतिक्रमण कर आत्मा की अनन्त ऊँचाइयों तथा गहराइयों तक फैलकर उससे भी दूर अनन्त में खोयी हुई है—असीम और अमाप्य। जो महावीर वीस मारणान्तिक यन्त्रणाओं से गुजरकर भी संगम देव को कहते हैं—"मुझे दुःख है कि मेरे कारण तुमने अपनी आत्मा को इतने स्निग्ध हिंसक कर्मों से बाँध लिया !" उनकी वीरता का अनुमान लगा पाना सम्भव ही नहीं है।

प्रतिक्रिया में जीनेवाला कायर

यह महान् वीरता है। जो हिंसा से आहत होकर प्रतिहिंसा करता है वह मन के भीतरी स्तरों पर बड़ा कायर है। उसको एकदम पी जाने की, अपने पर झेलकर उसका अस्तित्व तक मिटा देने की उसमें क्षमता नहीं है। हिंसा उसके लिए बड़ी मजबूत रही, जिसके प्रति वह वाध्य हुआ प्रतिक्रिया करने को। बड़ा दुर्वल है वह स्वयं कि उसपर अपने को प्रतिष्ठित न कर अपने पर उसे ही प्रतिष्ठित कर डाला। महावीर-जैसे व्यक्ति हिंसा को अपने में भी पी जाते हैं,

उसकी सत्ता स्वयं पचाकर अस्तित्व-शून्य कर डालते हैं। उनके लिए हिंसा की सत्ता रही ही नहीं क्योंकि वे उससे प्रभावित होकर प्रतिक्रिया करते ही नहीं। हिंसा उनके व्यक्तित्व पर अपने को प्रतिष्ठित न कर पायी, बल्कि उन्होंने ही अपने व्यक्तित्व को हिंसा पर इतनी व्यापकता और गहराई से प्रतिष्ठित किया कि उसका अस्तित्व अर्थहीन हो गया उनके लिए। यह अकूत गरिमामयी वीरता है जिसने व्यक्तित्वहीन कर दिया हिंसा की अहंकारी सत्ता को। यह मारणान्तिक प्रहार है हिंसा पर जिससे तड़प उठती है वह, क्रुद्ध होकर प्रहार पर प्रहार कर अपने को थका डालती है, अन्ततः एक कीड़े की तरह रेंग-रेंगकर मरती है वह। हिंसा के अस्तित्व की सार्थकता प्रतिहिंसा में ही है। उसके अभाव में वह निरर्थक हो जाती है, प्रभाव-शून्य होकर मिट जाती है। हिंसा के पीछे खड़ा रहता है हिंसक का अहं जो तृप्त होता है प्रतिहिंसा से, क्योंकि उसमें वह सार्थकता पाता है अपनी हिंसा की।

उपेक्षा ही हिंसा का पूर्ण प्रतिकार

यह सार्थकता न मिलने पर वह बहुत तिलमिलाता है। क्योंकि हिंसा की अवमानना स्वयं हिंसक के अहं की अवमानना है। वह जो घूँसे का उत्तर लात से नहीं देता, उस घूँसे के पीछे खड़े शक्ति के अहंकार की भी उपेक्षा कर रहा होता है, उसके अस्तित्व को ही नकार रहा होता है, उसकी सत्ता को मानने से ही सीधा-सपाट इनकार कर रहा होता है। हिंसा का प्रतिकार भी प्रकारान्तर से उसकी प्रभावक सत्ता का स्वीकार है चाहे उसकी अभिव्यक्ति विरोधात्मक ही क्यों न हो। लेकिन जो प्रतिकार ही नहीं करता वह हिंसा के अस्तित्व को ही अमान्य कर उसकी गहरी अवमानना करता है। हिंसक अपनी हिंसा का उत्तर हिंसा में पाकर सन्तुष्ट होता है। भीतर से वह उत्तर की अपेक्षा रखता है, उसकी प्रतीक्षा भी करता है क्योंकि उससे विरोधी का व्यक्तित्व भी उसके समक्ष उतर जाता है और उसे कम से कम उसके अपने बराबर ही होने का सन्तोष अवश्य प्राप्त होता है। लेकिन जो उत्तर देता ही नहीं, वह उसकी घोर उपेक्षा कर रहा है। हिंसा का उत्तर अगर हिंसा में दिया जाता है तो वह हिंसा के साथ सहयोग है, उसकी सत्ता का समर्थन है, उसका अनुमोदन है। उत्तर ही न देना तो उसके साथ सर्वथा असहयोग है, उसकी सत्ता का पूर्ण प्रतिकार है। अतः वह झुँझलाकर बार-बार प्रहार करता है और हर प्रहार एक तरफ़ ही रहते जाने से उसकी अकुलाहट बढ़ती जाती है, हीनता की भावना उसे ग्रस्त करती रहती है जब तक कि वह एकदम निष्क्रिय न हो जाये, निष्प्राण होकर चुप न हो जाये, लाचार होकर आत्मसमर्पण न कर दे। हिंसा की सीमा होती है। उसके पार उसका अस्तित्व

नहीं रहता। लेकिन अहिंसा की सीमा नहीं होती। वह सर्वव्यापी अस्तित्व होता है। उसकी सत्ता अबाध होती है। अहिंसा वीरत्व की चरम सीमा है जो हिंसा की सत्ता, उसकी अर्थवत्ता और शक्तिमत्ता को पी जाती है। हिंसा की सत्ता से हिंसक ही बँधता है। जो अहिंसक है वह निर्बन्ध रहता है। उसके लिए हिंसा के बन्धन का अस्तित्व रहता ही नहीं। वह स्वयं पाशमुक्त होता है और जो पाशबद्ध हैं उन्हें स्वयं अपने पराक्रम से पाशमुक्त करता है।

हिंसा की समाप्ति अहिंसा में

हिंसा पीड़ित कर सकती है, प्रतिबद्ध नहीं कर सकती। जो हिंसा के प्रहारों से आक्रान्त होता है वह पीड़ित होकर भी उससे पाशबद्ध नहीं होता। पाशबद्ध वह नहीं है जो प्रहार मात्र झेल रहा है क्योंकि हिंसा की सत्ता उसके बाहर ही है, भीतर नहीं। पाशबद्ध है वह जो प्रहार कर रहा है क्योंकि हिंसा की सत्ता उसके भीतर है, उसकी चेतना को अपनी गुंजलिका में जकड़कर निश्चेष्ट कर चुकी है, उसे एक स्वचालित यन्त्र या ओटोमेटन बना चुकी है। वह नहीं रहा है अपने आपमें कहीं, हिंसा ही रह गयी है भीतर। बाहर के जगत् का सारा कार्य-व्यापार हिंसा भीतर से सम्पादित कर रही है और उसका शरीर-मन रह गया है मात्र एक प्राणहीन संयन्त्र। उसका अपना व्यक्तित्व कहाँ रहा? उसकी अपनी इच्छा कहाँ है? वह मात्र वही करता जा रहा है जो हिंसा उससे करा रही है, दूसरों की तरह। वह मात्र अनुकरण कर रहा है दूसरों का, दूसरे अनुकरण कर रहे हैं तीसरों का और यह परम्परा आगे से आगे बढ़ती जाती है। यह अन्तहीन क्रम है। हिंसा की प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा एक शृंखला है प्रतिक्रियाओं की, 'चेन रीएक्सन्स', जिसके टकराव का बिन्दु कहीं नहीं है। अगर कहीं यह समाप्त होती है तो वह बिन्दु अहिंसा का है क्योंकि अहिंसा के समक्ष वह एक-पक्षीय रह जाती है और किसी भी परम्परा के लिए क्रिया-प्रतिक्रिया के दो पक्षों की सतत सत्ता अनिवार्यतः अपेक्षित है। वीर है वह जो इस सम्पूर्ण परम्परा को ही तोड़ डालता है; प्रतिपक्ष की सत्ता स्वयं में मिटाकर पक्ष स्वयं ही मिट जाता है, क्योंकि प्रतिपक्ष के अभाव में उसकी प्रभावक सत्ता ठहर ही नहीं सकती। महावीर हिंसा के पाश काट डालते हैं उसका एकदम प्रतिकार न करने के द्वारा और उससे वह हिंसक जो पाशबद्ध है, अपनी हिंसा से मुक्त हो जाता है। वैर और घृणा, क्रोध और हिंसा उभयपक्षीय होते हैं। एक पक्ष न रहे तो वे मिट जाते हैं। क्योंकि उनका पक्ष प्रतिपक्ष पर ही टिका होता है। वह जो हिंसा का हिंसा के ही द्वारा प्रतिकार करता है, उसे प्रतिपक्ष देकर उभयपक्षी बनाता है, प्रकारान्तर से वही उसकी सत्ता को सार्थकता से मण्डित करता है,

उसके अस्तित्व को आधारभूमि देता है और वह जो प्रतिकार-मुक्त है, हिंसा की एकपक्षीय सत्ता को अपने से काटकर फेंक देता है—बिखरकर मिट जाने के लिए। महावीर की प्रकल्पना का वीर वही है जो हिंसा को ही समूल नष्ट कर देता है अपने प्रतिपक्षी के भीतर से ही, पाशमुक्त कर देता है उसे भी हिंसा की सर्प-गुंजलिका से।

प्रतिकार स्वयं हिंसा

महावीर की भूमिका पर हिंसा का प्रतिकार है ही नहीं चाहे वह अहिंसक हो या हिंसक। जिसे हम अहिंसक प्रतिकार कहते हैं वह भी हिंसा का ही प्रतिपक्ष है, अतः स्वयमेव हिंसा है। प्रतिपक्ष अपने ही पक्ष का विपरीत सन्दर्भ मात्र होता है अतः प्रतिकार से हिंसा रूपान्तरित होकर विद्यमान रहती है। वीर हिंसा की सत्ता स्वीकार नहीं कर सकता, उसे पोषण नहीं दे सकता—समर्थन या विरोध किसी भी माध्यम से। अतः प्रतिकार मुक्त होता है, अनाक्रामक होता है, सम्पूर्णतः अहिंसक होता है। वह दमनकारी सत्ता का भी दमन नहीं करता क्योंकि उससे सत्ता दमित होती है लेकिन दमन से दमन मिटता नहीं अपितु सम्पुष्ट होता है। हिंसा के द्वारा हिंसक की सत्ता टूटती है लेकिन हिंसा से हिंसा पोषण ही पाती है। मार्टिन लुथर किंग के शब्दों में : "इससे वह रात जो पहले से ही नक्षत्रों के प्रकाश से शून्य और घोर तिमिरावृत अमानिशा है, और तिमिरमयी हो जाती है क्योंकि अँधेरा अँधेरे को मिटा नहीं सकता, उसे बढ़ाता ही है।"

लेकिन प्रतिकारमुक्त वीर हिंसा की सत्ता को स्वीकार कर लेता हो, यह कदापि सम्भव नहीं है। वह प्रतिकार नहीं करता लेकिन अपने में और अपने समग्र परिवेश में हिंसा का नकार करता है। वह स्वयं हिंसा नहीं करता, दूसरे से हिंसा नहीं करवाता और अगर कोई उस पर भी हिंसा करता हो तो उसे समर्थन, अनुमोदन या सहयोग कदापि नहीं देता। जो व्यवस्था हिंसक है वह उसके प्रति सम्पूर्ण अवज्ञापूर्ण होगा—'टोटेली डिसओबीडिएण्ट'। उसके प्रति वह सम्पूर्णतः असहयोगी होगा—'नान कोऑपरेटिव'। गान्धी जी जिसे सविनय अवज्ञा तथा असहयोग कहते थे वह अहिंसक की जीवनचर्या का एक अनिवार्य अंग है। यह उसके लिए कोई आन्दोलन नहीं है, कोई लक्ष्यवेधी कर्म नहीं है, विरोध या प्रतिकार नहीं है बल्कि अनिवार्य अपेक्षा है अहिंसा की, जीवन में समग्र एवं सम्पूर्ण साधना के लिए। वह अहिंसक जीवन का सहकार है जीवन से। हिंसा जीवन का असहकार है जीवन से।

अहिंसा जीवन से सहकार

अहिंसक जीवन से असहकार न कर सकता है, न करवा सकता है, दूसरों का इसमें—अपने प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग से, समर्थन से, अनुमोदन से। वह हिंसा को असहकार नहीं कर रहा होता बल्कि जीवन से किसी भी प्रकार असहकार करने से, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, सविनय इनकार कर रहा होता है क्योंकि यह उसका आत्मधर्म है। उसका लक्ष्य हिंसा की सत्ता को तोड़ना नहीं क्योंकि तोड़ने की भावना अपने आपमें ही हिंसक है जो हिंसा को सम्पोषण देती है। उसका लक्ष्य है अपने जीवन में भीतर-बाहर अहिंसा की अटूट साधना। अगर व्यक्ति अहिंसक है और उसके परिवेश में हिंसा है तो वह अपने परिवेश का विरोध या प्रतिरोध न करते हुए भी उसका समर्थन नहीं कर सकता, उसको किसी भी प्रकार से सहयोग नहीं दे सकता क्योंकि उसका अर्थ होगा हिंसा में हाथ बँटाना जो कि उसके लिए सम्भव नहीं है। अतः वीर की जीवन-साधना हिंसा की सत्ता को अस्वीकार करते हुए चलती है, उसका प्रतिकार करते हुए नहीं लेकिन कर्म के स्तर पर प्रतिकार उससे स्वतः सहज निष्पन्न होता है। अनिवार्यतः उससे बन्धनों का परिमोचन होता है—बिना किसी लक्ष्यवेधी क्रिया के।

भ्रष्ट व्यवस्था के लिए हर व्यक्ति ज़िम्मेवार

अगर कोई व्यवस्था भ्रष्टाचार और शोषण की हेतु बन गयी है तो उसके क़ायम रहने और क्रियाशील होने में सहयोगी हर व्यक्ति उस अन्याय का भागीदार है। अगर हर व्यक्ति उस शोषण एवं भ्रष्टाचार में भागीदार नहीं बनता तो उसके अस्तित्व को टिकने का आधार मिल ही नहीं पाता। क्योंकि अकेला व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। समाज या राज्य की व्यवस्था सम्पूर्णतः उभयपक्षी होती है। अगर कोई पूँजीपति शोषण करते हुए भी क़ायम है तो उसका कारण हैं वे शोषित; जो उसे ऐसा करने में सहयोगी बने हैं, क्योंकि वे स्वयं एक दूसरे के शोषक हैं। अगर वे परस्पर शोषक नहीं होते, परस्पर शोषण में सहयोगी नहीं होते तो उनका शोषण हो ही नहीं सकता। अगर कोई राज्यसत्ता अन्याय पर क़ायम है तो इसका कारण है वह प्रजा, जो सहयोगी है उसके क़ायम रहने में, अन्यथा उसका एक पल के लिए भी अस्तित्व क़ायम नहीं रह सकता। अहिंसक समाज की व्यवस्था हिंसक कभी नहीं हो सकती। यदि है तो इसका कारण यही है कि स्वयं वह समाज हिंसक है। जो हिंसक है वह हिंसा-पीड़ित होगा। यह कर्म का दुर्निवार नियम है। जिस क्षण वह हिंसक नहीं रहेगा, उसकी व्यवस्था हिंसक नहीं रहेगी। उसे मिटना या बदलना ही पड़ेगा क्योंकि हिंसा के लिए भी सहयोग चाहिए, उसका जिस पर कि वह हो रही है। शोषित

के सहयोग के बिना शोषण नहीं हो सकता। पीड़ित के सहयोग के बिना पीड़न नहीं हो सकता। अतः हर पीड़क पीड़ित होने के कारण ही पीड़क है। 'पाणा पाणे किलेसंति'—प्राणी प्राणी को क्लेश दे रहा है। अगर मारना बन्द कर दें सब तो कोई भी मारा नहीं जायेगा।

क्राइस्ट के पास कुछ लोग एक औरत को जंजीरों से जकड़कर लाये और कहा—'यह व्यभिचारिणी है। मूसा के विधान के अनुसार इसे पत्थरों से मार डालना चाहिए।' क्राइस्ट ने कहा—'ठीक है। विधान की सत्ता अनुल्लंघनीय है। मारो इसे।' लोगों ने पत्थर उठा लिये और उस औरत को घेर लिया। पत्थर मारने ही वाले थे कि क्राइस्ट ने कहा—'ठहरो, पहला पत्थर इसे वही मारे जिसने स्वयं कभी पाप नहीं किया हो। पापी को दण्ड देने का अधिकारी वही होता है जो स्वयं निष्पाप हो।' सब एक दूसरे के मुंह की ओर ताकने लगे और एक-एक कर चलते बने। अन्त में क्राइस्ट ने आंख उठाकर देखा तो वहां उस औरत के अलावा कोई नहीं था। क्राइस्ट ने पूछा—'बेटी, कहां हैं वे जो तुम्हें दण्डित करना चाहते थे?' उसने कहा—'पिता, वे सब चले गये। किसी ने मुझे दण्डित नहीं किया।' क्राइस्ट ने करुणार्द्र हृदय से कहा—'जाओ बेटी, फिर कभी ऐसा दुष्कृत्य मत करना।'

कौन है निष्पाप ?

बात हज़ारों वर्ष पुरानी है, परन्तु वह सवाल जो इसमें उठाया गया है, आज भी हमारे सामने खड़ा है, एक विराट् प्रश्न-चिह्न के रूप में हमारे अन्तश्चक्षुओं के सामने झूल रहा है। वह यह कि पहला पत्थर मारे पापी को—वह निष्पाप व्यक्ति कहां है? न्याय-निर्णय करे अन्यायी पर, वह पवित्रात्मा न्यायमूर्ति कहां है? भ्रष्ट समाज और उसकी व्यवस्था का विरोध करने का अधिकारी हो, वह सम्पूर्णतः अभ्रष्ट नैतिक व्यक्ति कहां है? हिंसा का प्रतिकार करने का जो अधिकारी है वह अहिंसक कहां है? अगर वह अहिंसक है तो हिंसा का भी प्रतिकार नहीं करेगा क्योंकि प्रतिकार स्वयमेव हिंसा है। अगर वह हिंसा का प्रतिकार करता है तो अभी तक अहिंसक नहीं हो पाया है अतः प्रतिकार करने का अधिकारी बना ही नहीं। अहिंसक प्रतिकार नहीं कर सकता फिर भी हिंसा उससे निरस्त होती है। वह जो प्रतिकार करता है, हिंसा को निरस्त नहीं कर पाता बल्कि उसका सम्पोषण कर रहा होता है। क्योंकि प्रतिकार के पीछे उसका अहं स्वयमेव हिंसा है। प्रतिकार का अर्थ है अहं की प्रतिष्ठा, चाहे वह हिंसक के अहं पर भी क्यों न हो। अहिंसा गान्धी जी के शब्दों में अहं-शून्यता की ही चरम सीमा 'फ़ार्देस्ट लिमिट ऑफ़ ह्युमिलिटी' है।

अपने को उपाधि से नहीं जोड़ते हैं महावीर

महावीर के पूरे वाङ्मय में 'मैं' शब्द मिलता ही नहीं। समूचे आगम-साहित्य में उनका कोई आत्मकथ्य नहीं है। एक-दो प्रसंग हैं लेकिन वे दूसरे व्यक्तियों के बारे में हैं जिनका महावीर के जीवन से सम्बन्ध था। जैसे देवानन्दा ब्राह्मणी के सन्दर्भ में कि यह मेरी माँ है। जहाँ देव द्वारा गर्भापहरण की सम्भावना पर प्रश्न पूछा गया है वहाँ भी उन्होंने अपने गर्भापहरण के प्रसंग का उल्लेख तक नहीं किया है। सन्देश भी पूरा निर्वैयक्तिक है—'टोटल्ली इम्पर्सनल'। जहाँ सुधर्मा बोलते हैं, वे उल्लेख करते हैं कि उन भगवान् ने ऐसा कहा—'तणं भावया एव-मक्खायं'। लेकिन स्वयं महावीर जहाँ सन्देश का प्रारम्भ करते हैं वहाँ यही कहते हैं कि यह धर्म शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है—'एस धम्मे धुवे णिइए सासए।' यह धर्म आर्य द्वारा प्रवेदित है—'एस धम्म आरिएहिं पवेइयं'। जितने भी तीर्थंकर, पैग़म्बर, धर्म प्रचेता और अवतार हुए हैं, सबको भगवान् ने अपनी व्यापक दृष्टि में समेट लिया है। उन्होंने कहा—भूत, वर्तमान और भविष्य के सारे अर्हत् और भगवान् ऐसा कहते हैं। अपने को किसी भी उपाधि से नहीं जोड़ा महावीर ने। सर्वत्र यही कहा कि अर्हत् वन्दनीय हैं। यह नहीं कहा कि वे स्वयं वन्दनीय हैं। यद्यपि वे स्वयं अर्हत् थे। अपने को सम्पूर्णतः शून्य में विलीन कर देना—गान्धी जी के शब्दों में—टू रिड्यूस माइसेल्फ़ टू ज़ीरो—यह अहिंसा का सार तत्त्व है। सच्चा अहिंसक सम्पूर्णतः निरहंकारी होगा। आग्रह का मूल अहंकार स्वतन्त्र ही निराग्रही होगा।

नहीं है वीरता का सम्बन्ध अहंकार से

वीरत्व का सम्बन्ध हम अहंकार से जोड़ते आये हैं। सत्ता अहंकार के सम्पोषण की प्रक्रिया ही है। अहंकार-शून्य व्यक्ति के लिए अपनी सत्ता जैसा कुछ रह ही नहीं जाता। उसके लिए सत्ता रही ही नहीं, न अपनी दूसरों पर और न ही दूसरों की अपने पर। साम्राज्य-विस्तार हो या धन-वैभव का फैलाव, सबके केन्द्र में खड़ा है व्यक्ति का अहं। इस अहं की अभिव्यक्ति जितनी दर्पपूर्ण होगी, जितनी दूसरों की उपेक्षा करते हुए उन्हें निर्ममता से नकारते और कुचलते हुए होगी उतना ही हम उसे वीरत्व समझेंगे। इसी दृष्टि से इतिहास में हमें सिकन्दर, नेपोलियन और हिटलर उल्लेखनीय वीर पुरुष प्रतीत होते हैं। लेकिन यह हमारा अपना भ्रम है। अहंकारी व्यक्ति कायर है, कमज़ोर है। वह अपने अहंकार का दास है। उसका सारा जीवन-व्यवहार, अहंकार मात्र अभिव्यक्ति है व्यवहार के स्तर पर हीनता की। जो व्यक्ति जितना हीन होगा उतना ही अपने को श्रेष्ठ दिखलाने का प्रयत्न करेगा। दूसरों के प्रति उतना ही प्रतिस्पर्धाशील

होगा। अपनी सत्ता से दूसरों को दबाने और कुचलने में सन्तोष अनुभव करेगा। वह श्रेष्ठता-ग्रस्त 'आबसेस्ड' है, मनोरोगी है। महावीर हीनता से ग्रस्त नहीं है अतः श्रेष्ठता के दावे से भी मुक्त है। वे अपने को शून्य में निमज्जित कर चुके हैं। वे कुछ नहीं रहे, मात्र सत्ता है अस्तित्व की, अपने आपमें—'प्योर बीइंग इन इटसेल्फ'। न हीन है, न श्रेष्ठ—णो हीणे णो अइरित्ते। वे जैसी बात बड़ों से करते हैं वैसी ही छोटों से भी—जहा पुण्णस्स कत्थई तहा तुच्छस्स कत्थई। वे न अपनी आशातना करते हैं न दूसरों की—न अत्ताणं आसाएज्जा न लोयं आसाएज्जा। उन्होंने साक्षात्कार कर लिया है कि जीवन-सत्ता सबमें एक ही है। वह हाथी में भी है, कुन्थु में भी है और दोनों में वही है। गुणात्मक कसौटी पर समान महत्ता की अधिकारिणी है। श्वाइत्ज़र ने एक जगह लिखा है—'मैं जीवन हूँ, जीना चाहता हूँ, मेरे चारों ओर जीवन है जो जीना चाहता है। वह जीवन जो मैं हूँ और वह जो मेरे चारों ओर है अपनी मूल सत्ता में जीवन ही है अर्थात् मैं ही हूँ। उसे कहीं किसी के द्वारा भी आघात पहुँचता है तो वह जीवन द्वारा ही जीवन को पहुँचता है और चूँकि मैं स्वयं ही जीवन हूँ अतः यह आघात मेरे द्वारा मुझको पहुँचता है।' महावीर इस अनुभूति को बहुत गहराई से प्रतीत करते हैं और कहते हैं—पुरुष जिसे तू हन्तव्य—मारने की क्रिया का विषय—'आब्जेक्ट' समझता है वह स्वयं तू ही है। कोई किसी को भी मारता है तो वह जीवन को खण्डित करता है और चूँकि जीवन एक और अविभाज्य सत्ता है अतः वह विखण्डन स्वयं उसका भी है जो उसे कर रहा है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से लेकर मानव तक समग्र जीव-जगत् में परिव्याप्त जीवन-सत्ता महावीर का व्यक्तित्व-बोध है, मात्र शरीर और मन का एकान्तिक संकाय नहीं जिसकी संकीर्ण सीमाओं में हम जीते हैं।

अहंकार ही सबसे बड़ी दीवार

हिंसा का निर्मूलन वहीं हो सकता है जहाँ आत्म (सेल्फ़) तथा लोक (नॉन सेल्फ़) के मध्य सीमारेखा ही टूट जाये; देह की दीवारों से पार जाकर आत्मसत्ता समग्र जीवन-अस्तित्व के साथ अभिन्न एकत्व में परिव्याप्त हो उठे। वहाँ अहंकार की सत्ता रहती ही नहीं क्योंकि अहंकार आत्मचेतना पर देह-मन से तादात्म्य का सीमाबोध मात्र है जो एक प्रतीत्याभास है, 'फ़िनोमिना' मात्र। यथार्थ (रियलिटी) है वह आत्मचेतना जो समग्र जीवन-सत्ता में अपनी उसी एक गुणात्मक स्थिति में है। इसी कारण जहाँ लौकिक जीवन में हम वीरत्व को दूसरों पर अहं की सत्ता प्रतिष्ठापित करने का साधन पाते हैं—सिकन्दर, सीज़र, नेपोलियन सबमें, वहाँ महावीर का वीरत्व सम्पूर्ण अहं-शून्यता में से प्रस्फुटित हुआ

है। वहाँ मैं—चेतना इतनी विराट् हो गयी है कि उसे कोई शब्द नहीं दिया जा सकता और जिसे मैं—वाची शब्द-संज्ञा हम देते आये हैं वह महावीर की भूमिका पर कोई सत्ता और अर्थवत्ता नहीं रखती।

आज हम बहुधा कहते हैं कि मानव का जीवन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए निम्न कोटि के प्राणियों का शोषण और हनन भी हो तो वह अकाम्य नहीं। यह हमारे सामूहिक अहं से निष्पन्न भ्रान्ति के अलावा कुछ नहीं। एक घोड़ा यह कह सकता है कि घोड़े के जीवन की रक्षा के लिए आदमी का शोषण और हनन न्याय है। यही बात एककोषीय जीव अमीबा भी कह सकता है। मूल बात है जीवन। एक अमीबा कल का बुद्ध हो सकता है। एक कीड़ा कभी ईसामसीह हो सकता है। जीवन-सत्ता के हज़ारों-लाखों रूप हैं, लेकिन अपने आपमें वह जीवन-सत्ता ही है। उसका कोई भी रूप दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। उसका कोई भी रूप दूसरे के लिए साधन नहीं। जीवन साध्य है, अपनी-अपनी समग्र अखण्डित एक सत्ता में वह अपना साधन भी है, लेकिन उसका कोई एक रूप दूसरे के लिए निरा साधन तथा मात्र स्वयं के लिए साध्य नहीं बन सकता। जीवन की साध्य-साधनामयी सत्ता अपनी समग्र एकता के सन्दर्भ में ही अन्तर्भूत है, उसके बाहर नहीं। यह समत्व-दृष्टि ही महावीर की अहिंसा बनी अथवा यों कहें कि व्यवहार के स्तर पर जिसे अहिंसा कहा जाता रहा है वह इसी समत्व-चेतना की प्रतिच्छाया मात्र है। बुद्ध ने जब व्यक्तित्व-बोध के देह-मानसिक स्तरों पर आत्म (सेल्फ़) की सत्ता स्वीकार करने से ही इन्कार किया था तब वह अहिंसा की इसी परम भाव भूमि पर खड़े थे। इसी को गान्धी ने कहा है—अपने को एकदम शून्य कर डालना। महावीर के वीरत्व का उद्घाटन यहीं से होता है—अहिंसा, परिग्रह और अनेकान्त तो देह,मन की क्रियाएँ, जीवन के साधन तथा परिवेश एवं विचार के अभिव्यक्ति मात्र हैं।

जो अन्तिम है वही है प्रथम

महावीर ने कहा—पंतं लुहं च सेवन्ति वीरा सम्मत्त दंसिणो। वीर प्रान्त (अवशिष्ट) और रूक्ष (रसहीन) का सेवन करते हैं क्योंकि वे समत्वदर्शी हैं। समत्वदर्शी वही हो सकता है जो सब जीवों को अपने समान समझे और अपने आचरण में उस समता का अवतरण करे। वह अपने को किसी से विशिष्ट नहीं रखता। आहार-विहार में भी वह सामान्य स्तर का अतिक्रमण नहीं करता। सामाजिक-आर्थिक स्तर पर जो अन्त्यजन है, अन्तिम व्यक्ति है, सबसे अकिंचन, उसके भी वह समान है। उससे ऊपर कदापि नहीं। उसके द्वारा

सेवनीय पदार्थों में से भी जो बचता है, उसके द्वारा भी जो त्यक्त हो जाता है, उसे वीर ग्रहण करता है। अन्त्यज भी जिसे ग्रहण नहीं करता, छोड़ देता है, उसे वीर ग्रहण करता है। समाज के स्तर क्रम में जो व्यक्ति सबसे पीछे खड़ा है उससे भी पीछे जाकर खड़ा है वीर। अकिंचन का भी अकिंचन वनकर वह जीता है।

महावीर ने महाभिनिष्क्रमण किया। राजपाट, धन-सम्पदा सब छोड़ी। एकदम भिक्षुक की भूमिका पर आ गये। विशिष्टता की सारी रेखाएँ और उनके उभार मिटाकर चले थे वे। लज्जा से भी अनाक्रान्त भगवान् निर्ग्रन्थ थे—लोक की सारी एषणाओं का ग्रन्थिभेद कर चुके थे। यही थी उनकी अहिंसा, यही थी समता। समता का साधक अपने को सबसे पीछे ले जाता है, एकदम आवरणहीन अकिंचन हो जाता है। शून्य प्रायः हो जाता है दूसरों के लिए। महात्मा गान्धी ने आत्मकथा के अन्त में लिखा—अहिंसा विनम्रता की, अकिंचनता की चरम सीमा है। सम्पूर्णतः अहिंसक होने के लिए मुझे अपने को तव तक मिटाते रहना होगा जव तक कि दूसरों से मेरी विशिष्टता शून्य प्रायः न हो जाये। अपने को एकदम शून्य, एकदम रीता, एकदम अकिंचन वना डालना, अहिंसा और समता की साधना के लिए अनिवार्य है। यह वात केवल वाहरी साधनों तक ही सीमित नहीं रहती, मन की अन्तराल तक इसकी व्याप्ति है, गहरी सार्थकता है।

त्याग भी विकृति वन सकता है

एक व्यक्ति धन छोड़ सकता है, घर-वार छोड़ सकता है, एकदम अकिंचन हो सकता है वाहरी जीवन में भौतिक स्तरों पर, लेकिन मन में वह अपने को दूसरों से इतना विशिष्ट मान सकता है कि उनका अस्तित्व ही उसे कीड़ों-मकोड़ों-सा लगने लगे। भौतिक जीवन की अकिंचनता अगर मानसिक-आत्मिक जीवन में अहंवादिता की पोषक वन जाती है तो वह तथाकथित त्याग भी विकृति वन जाता है। एक व्यक्ति ने वीस लाख की सम्पत्ति छोड़ दी। साधु हो गया। कुछ भी उपकरण नहीं रखता। एक दम करपात्री—हाथों की अंजलि में ही आहार-जल ग्रहण करता। भीतर वीस लाख रुपयों की सम्पत्ति के त्याग का अहंकार प्रतिपल अपना पोषण उस त्याग में से पाने लगा। वीस लाख रुपयों की क़ीमत पर उसने उतने ही परिमाण में अहंकार ख़रीद लिया। पहले वह वीस लाख रुपयों का स्वामी था। वह स्वामित्व उसके अहं को तृप्त करता था। जव उसने वीस लाख रुपये छोड़ दिये तो वह त्याग उसके अहं को तृप्त करने लगा। कुल मिलाकर हिसाव वरावर रहा। अगर उसे त्याग की स्मृति में अहंकारजनित तुष्टि मिल रही है तो यह त्याग नहीं, विनिमय है, स्वामित्व के अहंकार के वदले

स्वामित्व छोड़ने के अहंकार का। यह त्याग नहीं है, विनिमय है, वस्तु छोड़ने के बदले उसके बराबर मूल्य का अहंकार लेकर।

अहंमूलक नहीं होता त्याग

वीर का त्याग अहंमूलक नहीं होता। उसमें त्याग करने का भाव नहीं होता। वह वैसा ही हो जाता है जैसे सांप की केंचुली एक स्थिति में व्यर्थ भार होकर स्वतः उतरकर गिर जाती है। जो त्याग कर रहा है वह वस्तु के मूल्य की सत्ता स्वीकार कर रहा है और उसके बदले में उतनी ही क़ीमत का अहंकार लेकर उसे छोड़ रहा है। लेकिन जहां वस्तु की सत्ता और महत्ता समाप्त हो जाती है, मूल्यवत्ता मिट जाती है, वहां त्याग हो जाता है। महावीर का महाभिनिष्क्रमण अपने आपमें न 'महा' था न 'अभिनिष्क्रमण' ही। हमारी चेतना के तल पर वह ऐसा प्रतिबिम्बित होता है क्योंकि हमारी अहंमयी भूमिका उस स्तर से बहुत नीची है। महावीर ने घर नहीं छोड़ा। वह कहते हैं—"यह जीव अनन्त काल तक घर की खोज में इस विराट् लोक की दिशाओं-अनुदिशाओं में संचरण करता रहा है।" घर की खोज सदा रही है लेकिन घर कहीं नहीं मिल पाया है। विराट् लोक का अणुमात्र भी प्रदेश नहीं है जहां यह जीव नहीं गया हो, लेकिन आज भी बेघर है। जिसे घर मिला ही नहीं वह घर कैसे छोड़ेगा ? घर की ही वह खोज़ है। उस खोज में ही तो चल रहा है सारा जीव-समुदाय। जागरण का हर क्षण खोज का क्षण है। मूर्च्छा का हर क्षण खोज में गतिरोध का क्षण है; आत्म-विस्मृति का कारण है। महावीर जाग्रत् थे। वह जागरण प्रतिपल गहरा और तीव्र व्यापक और तीक्ष्ण हो रहा था। एक सीमा-बिन्दु आया जहां मूर्च्छा की धूमिलता में स्वप्न छायाएँ भी अस्तित्वहीन हो गयीं। पुनः यात्रा शुरू हुई। यात्रा भीतर की थी। बाहर तो उसका प्रभाव झलक रहा था। छूटी थी मूर्च्छा, बाहर घर छूटता-सा सबको लग रहा था। महावीर ने घर नहीं छोड़ा। जब तक वह घर था, छूटा ही नहीं, तो छूटने को क्या रह गया ? छूटा था केवल भ्रम, छूटी थी केवल मूर्च्छा। वह भी जब तक थी छूटने का प्रश्न ही कहां उठता था ? जब टूट गयी, खण्डित होकर बिखर गयी तो जागकर चल दिये वर्द्धमान। घर से बाहर नहीं, बाहर से घर की ओर यात्रा शुरू हो गयी।

जीवन शरीराधारित है। शरीर रोटी, पानी, आवास आदि की अपेक्षा करता है। हम आहार करते हैं, महावीर भी करते थे। हम कहीं रहते हैं, चलते-फिरते, सोते-बैठते, खाते-पीते हैं। महावीर भी तो कहीं रहते थे। उन्होंने छोड़ा क्या ? 'मेरेपन' की मूर्च्छा ही तो छोड़ी थी। क्या वह भी उन्होंने छोड़ी थी ? क्या कोई मूर्च्छा को छोड़ या पकड़ सकता है ? जबतक मूर्च्छा है, संज्ञा

विशिष्टता का उन्मूलन ही कर डालता है समष्टि के लिए भी। वह समत्वदर्शी है, समत्वजीवी है। महावीर के वीर की सत्ता ग्रहण की नहीं, त्याग की है। अर्जन की नहीं, विसर्जन की है। वह सत्ता धन-सत्ता और राज-सत्ता नहीं, समत्वमयी प्रेम-सत्ता है। ईसामसीह का राज्य (किंगडम) उनके शिष्यों को भी समझ में नहीं आया। क्योंकि वह भौतिक जगत् का राजसत्तामय राज्य नहीं था। महावीर का वीरत्व भी उसी प्रकार की एक सर्वथा क्रान्तिकारी उद्भावना है। ईसामसीह के शिष्यों का विश्वास था कि वह जेरुसलम में प्रवेश करते ही सिंहासन पर बैठ जायेगा, रोमन साम्राज्य को ध्वस्त कर देगा, अपनी राजनीतिक सत्ता की घोषणा करेगा, वैभव और ऐश्वर्यमय तन्त्र स्थापित कर उसका शीर्षस्थ व्यक्ति बनेगा। लेकिन ईसा ने मस्तक झुकाये नगर प्रवेश किया। आत्मसाधना का उपदेश दिया। उसने कहा—मेरा राज्य भीतर का है। वह सबके भीतर है। पवित्रता और प्रेम का राज्य है। उसमें जो सबसे पीछे खड़ा रहेगा वही सबसे आगे माना जायेगा। जो अकिंचन होगा वही सर्वश्रेष्ठ माना जायेगा। जो विनम्र होगा वही उसका उत्तराधिकार पायेगा। इसी प्रकार की बात चीनी लाओत्जे ने कही कि वास्तविक नेता वह है जो सबके पीछे खड़ा होता है, इसीलिए वह सबसे आगे पूजित होता है। महावीर के वीरत्व तथा ईसामसीह के साम्राज्य का लक्षण यही है। महावीर के चरण-चिह्नों को देखकर एक नैमित्तिक को असामंजस्य ने ग्रस्त कर लिया था। चरण-चिह्नों से यह लगता था कि उक्त व्यक्ति एक चक्रवर्ती सम्राट् है, लेकिन पास आने पर देखा कि वह भिक्षुक तपस्वी है। उसे अपनी विद्या की प्रामाणिकता पर सन्देह हो गया। तब महावीर ने उसे बताया कि वे चक्रवर्ती हैं लेकिन धर्मचक्रवर्ती। वे सम्राट् हैं लेकिन अपने सम्राट्। वे धर्मचक्र के प्रवर्तक होनेवाले हैं। वीरत्व का यह सर्वथा मौलिक रूप था जिसकी प्रतिष्ठा ने कालान्तर में भारतीय मानस को एक नया आलोक दिया, जो आज भी अक्षुण्ण है।

●

महावीर : एक निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व

□

विश्व के धर्म-प्रचेताओं में महावीर सर्वाधिक निर्वेयक्तिक व्यक्तित्व हैं। जर्मन विद्वान् शुव्रिग ने लिखा है कि वे अपने बारे में अतिशय मौन रहे हैं। स्वयं अपने जीवन की घटनाओं के बारे में नहीं के बराबर कहा है। 'मैं' शब्द उनके वाङ्मय में शायद ही कहीं खोजने पर भी मिले। प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार उन्होंने अपने को कहीं प्रतिष्ठापित नहीं किया है। बुद्ध के वाङ्मय में विपुल आत्मकथात्मक कथ्य मिलते हैं। जरथुस्त्र का सारा वाङ्मय ही आत्मकथ्य-परक है। मुहम्मद एवं जीशु ख़ीस्त ने अपने को विशिष्ट पुरुषों के रूप में अपने-अपने धर्मों में स्मरणीय रखा है। लेकिन महावीर ने अपने व्यक्ति को सदैव अनुपस्थित ही रहने दिया है। दर्शन के इतिहास में ऐसा दूसरा पुरुष लाओ-त्जे है जिसके दार्शनिक विचार सब जानते हैं लेकिन जीवन के बारे में प्रायः कोई नहीं जानता क्योंकि कहीं कोई विशिष्ट सूचना उसके पूरे वाङ्मय में उपलब्ध ही नहीं है, उसकी परम्परा में भी सुरक्षित नहीं है।

लाओत्जे की यह बात महावीर पर पूरी तरह सार्थक होती है कि जो अपने को सबसे पीछे रखता है, वह स्वयमेव अपने को सबसे आगे पाता है। प्रकारान्तर से यही बात जीशु ख़ीस्त ने भी कही कि जो अपने को खो देते हैं, वे अपने को पा लेते हैं और जो अपने को क़ायम रखना चाहते हैं वे अन्ततः अपने को खो ही देते हैं। धर्म-साधना के जगत् में निर्वेयक्तिकता एक कसौटी है और इसपर महावीर जितने खरे उतरते हैं, दूसरा कोई उतर नहीं पाता। सारे सम्प्रदायों के पीछे वैयक्तिकता का आग्रह होता है, सारी परम्पराएँ वैयक्तिक अहंकार पर टिकी होती हैं, चांहे उनका परिवेश कितना ही सामूहिक क्यों न हो। महावीर की निर्वैयक्तिकता उनके दर्शन की सम्प्रदायातीतता का आधार है जिसे समझने पर ही हम उनके मार्ग का सही एवं स्पष्ट अवलोकन तथा मूल्यांकन कर सकेंगे। महावीर की भूमिका पर कहीं कोई व्यक्ति का समूह, परम्परा या वर्ग नहीं है, न जैन, न अजैन। वह भूमिका सारे समाजों, देशों, व्यक्तियों, वर्गों एवं वर्णों से परे शुद्ध आत्मिक स्थिति है, स्वभाव है जो सबका है, अतः किसी का भी नहीं; प्रत्येक का है, अतः किसी एक का नहीं।

क्या है सन्देश ?

पूछा गया महावीर से, आपका क्या है सन्देश ? महावीर अपने उत्तर में कहीं यह दावा नहीं करते कि उनका अपना कोई सन्देश है जिसका श्रेय उन्हें, मात्र उन्हें दिया जाता है। गणधर सुधर्मा कहते हैं : 'तेणं भगवया एव मक्खायं'—उन भगवान् ने ऐसा कहा। जबकि महावीर कहते हैं कि यह तो अतीत, वर्तमान एवं अनागत सारे अर्हन्तों का कहना है। "जे अईया जे य पड्डप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एव माइक्खंति, एवं मासति, एवं पण्णवेति एवं परूवेंति" "जो अतीत में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं, जो भविष्य में होंगे, उन सब अर्हन्तों भगवानों का यह आख्यान है, अभिभाषण है, प्रज्ञापना है, प्ररूपना है।" इन अर्हन्तों और भगवानों को जैन या जैनेतर किसी परम्परा से सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका सन्दर्भ सारे लोक से जुड़ा हुआ है। अर्हन्त की चेतना सारे लोक के अस्तित्व का अवगाहन किये हुए होती है, स्वयं भी उससे अवगाहित होती है। वह उस एक पर स्थित होता है जिसे जानने पर सबों को जाना जा सकता है और सबों को जानने पर भी अन्ततः उसी एक तक ही पहुँचा जाता है। इस भूमिका पर ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टाओं से लेकर ताओ-तेह्-किंग के ऋषि लाओ-त्जे तक अर्हन्तों की एक लम्बी क़तार खड़ी है जिसे नकारना स्वयं महावीर को ही नकारना है।

"सव्वत्थ सम्मयं पावं, तं उवाइ कम्मं"—पाप क्या है, इसपर सब सम्मत हैं, उसका अतिक्रमण कर चलना ही धर्म का पथ है। गीता हो या क़ुरान, बाइबल हो या जेन्द अवेस्ता, इखनातोन के पेपीरस की छाल पर लिखे अभिलेख हों या असीरियन ऋषियों द्वारा निनवे में उत्कीर्ण ईंटों पर खुदे जीवन-सूत्र, सबमें हिंसा, असत्य, स्तेय, असंयम, परिग्रह का वर्जन है। बात उस पथ को अपनाने की है, सन्देश के भिन्न होने की नहीं।

कौन-सा धर्म है शाश्वत ?

कौन-सा धर्म है शाश्वत ? इसके उत्तर में महावीर ने यह नहीं कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। परन्तु उन्होंने जो बताया वह जीवन के शाश्वत मूल्यों की आधार-शिला है : "सव्वे पाणा ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे, णिइए, सासए"—"सारे प्राणियों का नुक़सान न करना, उनपर अपनी सत्ता न लादना, उन्हें पीड़ित-प्रताड़ित न करना, उन्हें परितप्त एवं उद्विग्न न करना, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है।" यह जीवन का परम सत्य है जो किसी का अपना नहीं है, सबका है।

महावीर : एक निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व

□

विश्व के धर्म-प्रचेताओं में महावीर सर्वाधिक निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व हैं। जर्मन विद्वान् शुब्रिग ने लिखा है कि वे अपने बारे में अतिशय मौन रहे हैं। स्वयं अपने जीवन की घटनाओं के बारे में नहीं के बराबर कहा है। 'मैं' शब्द उनके वाङ्मय में शायद ही कहीं खोजने पर भी मिले। प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार उन्होंने अपने को कहीं प्रतिष्ठापित नहीं किया है। बुद्ध के वाङ्मय में विपुल आत्मकथात्मक कथ्य मिलते हैं। जरथुस्त्र का सारा वाङ्मय ही आत्मकथ्य-परक है। मुहम्मद एवं जीशु ख्रीस्त ने अपने को विशिष्ट पुरुषों के रूप में अपने-अपने धर्मों में स्मरणीय रखा है। लेकिन महावीर ने अपने व्यक्ति को सदैव अनुपस्थित ही रहने दिया है। दर्शन के इतिहास में ऐसा दूसरा पुरुष लाओ-त्जे है जिसके दार्शनिक विचार सब जानते हैं लेकिन जीवन के बारे में प्रायः कोई नहीं जानता क्योंकि कहीं कोई विशिष्ट सूचना उसके पूरे वाङ्मय में उपलब्ध ही नहीं है, उसकी परम्परा में भी सुरक्षित नहीं है।

लाओत्जे की यह बात महावीर पर पूरी तरह सार्थक होती है कि जो अपने को सबसे पीछे रखता है, वह स्वयमेव अपने को सबसे आगे पाता है। प्रकारान्तर से यही बात जीशु ख्रीस्त ने भी कही कि जो अपने को खो देते हैं, वे अपने को पा लेते हैं और जो अपने को क़ायम रखना चाहते हैं वे अन्ततः अपने को खो ही देते हैं। धर्म-साधना के जगत् में निर्वैयक्तिकता एक कसौटी है और इसपर महावीर जितने खरे उतरते हैं, दूसरा कोई उतर नहीं पाता। सारे सम्प्रदायों के पीछे वैयक्तिकता का आग्रह होता है, सारी परम्पराएँ वैयक्तिक अहंकार पर टिकी होती हैं, चांहे उनका परिवेश कितना ही सामूहिक क्यों न हो। महावीर की निर्वैयक्तिकता उनके दर्शन की सम्प्रदायातीतता का आधार है जिसे समझने पर ही हम उनके मार्ग का सही एवं स्पष्ट अवलोकन तथा मूल्यांकन कर सकेंगे। महावीर की भूमिका पर कहीं कोई व्यक्ति का समूह, परम्परा या वर्ग नहीं है, न जैन, न अजैन। वह भूमिका सारे समाजों, देशों, व्यक्तियों, वर्गों एवं वर्णों से परे शुद्ध आत्मिक स्थिति है, स्वभाव है जो सबका है, अतः किसी का भी नहीं; प्रत्येक का है, अतः किसी एक का नहीं।

क्या है सन्देश ?

पूछा गया महावीर से, आपका क्या है सन्देश ? महावीर अपने उत्तर में कहीं यह दावा नहीं करते कि उनका अपना कोई सन्देश है जिसका श्रेय उन्हें, मात्र उन्हें दिया जाता है। गणधर सुधर्मा कहते हैं : 'तेणं भगवया एव मवखायं'—उन भगवान् ने ऐसा कहा। जबकि महावीर कहते हैं कि यह तो अतीत, वर्तमान एवं अनागत सारे अर्हन्तों का कहना है। "जे अईया जे य पड्डुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एव माइक्खंति, एवं मासति, एवं पण्णवेति एवं परूवेंति" "जो अतीत में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं, जो भविष्य में होंगे, उन सब अर्हन्तों भगवानों का यह आख्यान है, अभिभाषण है, प्रज्ञापना है, प्ररूपना है।" इन अर्हन्तों और भगवानों को जैन या जैनेतर किसी परम्परा से सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका सन्दर्भ सारे लोक से जुड़ा हुआ है। अर्हन्त की चेतना सारे लोक के अस्तित्व का अवगाहन किये हुए होती है, स्वयं भी उससे अवगाहित होती है। वह उस एक पर स्थित होता है जिसे जानने पर सबों को जाना जा सकता है और सबों को जानने पर भी अन्ततः उसी एक तक ही पहुँचा जाता है। इस भूमिका पर ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टाओं से लेकर ताओ-तेह-किंग के ऋषि लाओ-त्जे तक अर्हन्तों की एक लम्बी क़तार खड़ी है जिसे नकारना स्वयं महावीर को ही नकारना है।

"सव्वत्थ सम्मयं पावं, तं उवाइ कम्मं"—पाप क्या है, इसपर सब सम्मत हैं, उसका अतिक्रमण कर चलना ही धर्म का पथ है। गीता हो या क़ुरान, बाइबल हो या जेन्द अवेस्ता, इखनातोन के पेपीरस की छाल पर लिखे अभिलेख हों या असीरियन ऋषियों द्वारा निनवे में उत्कीर्ण ईंटों पर खुदे जीवन-सूत्र, सबमें हिंसा, असत्य, स्तेय, असंयम, परिग्रह का वर्जन है। बात उस पथ को अपनाने की है, सन्देश के भिन्न होने की नहीं।

कौन-सा धर्म है शाश्वत ?

कौन-सा धर्म है शाश्वत ? इसके उत्तर में महावीर ने यह नहीं कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। परन्तु उन्होंने जो बताया वह जीवन के शाश्वत मूल्यों की आधार-शिला है : "सव्वे पाणा ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे, णिइए, सासए"—"सारे प्राणियों का नुक़सान न करना, उनपर अपनी सत्ता न लादना, उन्हें पीड़ित-प्रताड़ित न करना, उन्हें परितप्त एवं उद्विग्न न करना, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है।" यह जीवन का परम सत्य है जो किसी का अपना नहीं है, सबका है।

असाधु हैं। जो जागे हुए हैं वे साधु हैं। यह नहीं कहा महावीर ने कि जो मेरी परम्परा में दीक्षित है, वह साधु है। जो मेरी परम्परा में दीक्षित नहीं है, वह असाधु है। परम्परा और साधुता का परस्पर कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। परम्परा में दीक्षित होकर भी वह असाधु हो सकता है, परम्परा से मुक्त होकर भी वह साधु हो सकता है। साधुता की कसौटी जागना है, असाधुता की कसौटी सोना है। किसी भी परम्परा से इसका कोई लेना-देना नहीं है।

स्वयं से खोजें सत्य को

बड़ा अनूठा और रहस्यमय है महावीर का व्यक्तित्व। नहीं समझ सकती कोई भी परम्परा ऐसे निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व को। क्योंकि परम्परा चौखटों में बँधे व्यक्ति का ही मूल्यांकन करना जानती है। और महावीर तोड़नेवाले हैं इन सारे चौखटों को। वे स्वयं भी दीक्षित नहीं होते भगवान् पार्श्व की परम्परा में। उनके माता-पिता पार्श्व की परम्परा में हैं। जैन-परम्परा उन्हें भगवान् पार्श्व के पश्चात् चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करती है। वे इनकार कर देते हैं किसी भी परम्परा में दीक्षित होने से। सारे चौखटे बेमानी हैं उनके लिए। केवल सत्य की साधना ही उनके लिए मूल्य रखती है।

प्रश्न हुआ, कैसे खोजें सत्य को, कौन-सा रास्ता लें सत्य को पाने के लिए? महावीर मौन हैं। नहीं कहते वे कि जो रास्ता मैंने सुझाया है, वही सत्य का मार्ग है। अधिक आग्रह करने पर धीमे-से उत्तर देते हैं वे—"अप्पणा सच्च मेसेज्जा" —अपने से खोजो सत्य को। अपने से पूछो यह सवाल, जो मुझसे पूछ रहे हो। नहीं मिल सकता इसका उत्तर दूसरों से। क्योंकि इसका उत्तर केवल तुम्हारे अपने पास है। न महावीर के पास है, न बुद्ध के पास है और न किसी तीर्थंकर, वीर, पैग़म्बर और अवतार के पास है, इसलिए व्यर्थ है पूछना दूसरों से। और महावीर फिर मौन हो जाते हैं।

ज्ञान की अद्वैत विभा हैं महावीर

हर प्रश्न का बड़ा पारदर्शी उत्तर है, महावीर के पास। क्योंकि महावीर उस भूमिका पर खड़े हैं जहाँ विभाव-पर्यायों से चेतना का तादात्म्य टूट चुका है, अपनी सत्ता खो चुका है। अतः वे अब व्यक्ति नहीं हैं। यही स्रोत है उनकी निर्वैयक्तिकता का जो भावनात्मक स्तर पर अनुभूत किया जा सकता है, बौद्धिक स्तर पर विश्लेषित नहीं। वैयक्तिकता का स्रोत विभिन्नता है, विभिन्नता सदैव तुलना पर टिकी होती है, तुलना द्वैत में ही सम्भव होती है। जहाँ अद्वैत है, वहाँ न तुलना है, न विभिन्नता, न वैयक्तिकता। वहाँ न महावीर नाम का कोई अर्थ

है, न आकार का, न प्रतिमा का। वह अप्रतिम है, उसकी कोई प्रतिमा हो सकती ही नहीं। वह न मैं है, न तुम, न वह। वह न शब्द है, न स्पर्श, न रस, न रंग, न रूप, न गन्ध, न इन सबका समन्वय; न इनके अलावा अन्य कुछ भी, अलग से। वह जो है, बस है। वह मैं-शून्य चेतना है जहां ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत नहीं, ज्ञान की अद्वैत विभा है।

⊙

सुना है मैंने आयुष्मन्!

आर्थिक विषमता और धर्म

□

हर धर्म ने अर्थ के वैषम्य और शोषणमूलक तन्त्र के विरुद्ध आवाज़ उठायी। वह तबतक ही ज़िन्दा रहा जबतक कि उसकी आवाज़ ज़िन्दा रही। जहाँ उसने चालू व्यवस्था से सामंजस्य स्थापित किया, उसमें अन्तर्निहित अन्याय की उपेक्षा कर दी, अथवा उससे भी आगे बढ़कर उसका समर्थन कर दिया, उसकी तत्क्षण मृत्यु हो गयी। यह दूसरी बात है कि धर्म की ज़िन्दा आवाज़ से जिन निहित स्वार्थों को हीनभावना और बेचैनी से गुज़रना पड़ता था उनके लिए धर्म का शव उनके पतित दम्भ की प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया। दूसरे शब्दों में, जो धर्म के जीवन्त रूप का विरोध करते रहे, उन्होंने ही उसके शव को पूजने में सदा अगवानी की। इतिहास साक्षी है कि ईसा के अवतरण के पूर्व जिन तीन-चार पैग़म्बरों—मीका, होसिया, ईसाइया, इजाकील आदि ने लोक-जीवन के आर्थिक वैषम्य, मानव द्वारा मानव के धन का अपहरण, चाँदी-सोने के साथ मानव को तराज़ू पर तोलकर ख़रीदने-बेचने के, विरुद्ध आवाज़ उठायी उन्हें निर्ममता से उनके समकालीन पुजारियों एवं शास्त्रियों ने, जो धनिक वर्ग के ख़रीदे हुए दास थे, अपमानित, लांछित और पीड़ित कर मारा। उन्होंने ही मरने के बाद उन्हें पूजा भी, पैग़म्बर माना भी, क्योंकि उनकी आवाज़ ख़ामोश हो गयी थी, मात्र नाम था जिसे लोकमानस से मिटाने की क्षमता उनमें नहीं थी और लोकमानस के अनुकूल हुए बिना लोकजीवनका शोषण नहीं हो सकता। उन्हीं पुजारियों एवं शास्त्रियों ने जब ईसामसीह को मन्दिर के भीतर घुसकर रेज़गारी बदलनेवालों (मनी चेंजर्स) के तख़्ते उलटते देखा, उसे भी रातोंरात पकड़वाकर मरवा दिया। जब तक आवाज़ ज़िन्दा रही, उन्होंने उसे कुचलने का प्रयास किया। मरने के बाद आवाज़ देनेवाले को मसीहा बनाकर पूजा। उसके नाम पर जनसामान्य को स्वर्ग का लोभ तथा नरक का भय दिखाकर सहस्राब्दियों तक लूटा। इस शताब्दी में ही धर्म की शोषण एवं वैषम्य विरोधी आवाज़ पुनः नीग्रो अधिनेता मार्टिन लूथर किंग के स्वरों में उभरी तो गोली मारकर उसे ख़ामोश किया गया और आज मार्टिन लूथर किंग की शव-पूजा भी उसी प्रकार की जा रही है जैसे ईसाइया, मीका, होसिया और ईसामसीह की आवाज़ कुचलने का प्रयास करनेवालों ने उनकी शव-पूजा की थी। हर युग में

जीवित धर्म से निहित स्वार्थ लड़ते हैं, उसकी हत्या कर तब उसे पूजते आये हैं।

आवश्यकता से अधिक संग्रह-चोरी

महावीर इतिहास में प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने मानव को सर्वोपरि प्रतिष्ठा दी। इसके लिए वे इस सीमा तक आगे बढ़े कि ईश्वर की नियामक सत्ता को भी बुलन्द आवाज़ में स्पष्टता से नकार दिया। उन्होंने कार्ल मार्क्स से हज़ारों वर्ष पूर्व कहा।

> असंविभागी असंगहरुई अप्पमाणभोई
> से तारिसए नाराहए वयमिणं।

"जो असंविभागी है—जीवन-साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की सत्ता स्थापित कर उनके प्रकृति प्रदत्त संविभाग को नकारता है, असंग्रहरुचि—जो अपने लिए ही संग्रह करके रखता है और दूसरों के लिए कुछ भी नहीं रखता, अप्रमाणभोजी—मर्यादा से अधिक भोजन एवं जीवन-साधनों का स्वयं उपभोग करता है, वह अस्तेय का आराधक नहीं, विराधक है।" वह 'स्तेय' यानी चोरी करता है, अदत्तादान अर्थात् जो उसका नहीं है उसे अपना मानता है, जो उसे नहीं दिया गया है उसे बलात् लिये हुए है। मनु इसके समानान्तर बात कहते हैं कि आज और इसी पल जो आवश्यक है जीवन-निर्वाह के लिए उससे अधिक अन्न का एक कण भी, सूत का एक धागा भी जिसने संग्रह कर रखा है वह स्तेय—चोरी कर रहा है और दण्ड पाने योग्य है। स स्तेनः दण्डमर्हति।

व्यक्ति समाज की इकाई

मार्क्स की बुनियादी मान्यता यही है कि जिसे हम ऐकान्तिक रूप से व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते हैं, वह चोरी है—'प्रोपर्टी इज़ थेफ़्ट'। ऐकान्तिक रूप से व्यक्तिगत तो हम ही नहीं हैं। समाज के सन्दर्भों में व्यक्ति का अर्थ है। व्यक्तियों की समष्टि समाज है तो समाज की इकाई व्यक्ति है। जब व्यक्ति समष्टि के सन्दर्भ से जुड़ गया तो वह व्यक्ति रहा ही कहाँ? जुड़ा रहकर भी वह व्यक्ति रहना चाहे तो यह विश्वासघात है समष्टि के साथ, चोरी करना है समष्टि की। समष्टि ने उसे पाला-पोसा, शिक्षा दी, कार्य-निपुणता दी, व्यवसाय दिया; तो जो व्यवसाय से निष्पन्न है वह समष्टि से अलग कैसे हुआ? एक आदमी घड़ी बनाने का कारखाना खोलता है। उसे व्यावसायिक निपुणता, तकनीकी जानकारी, प्रारम्भ करने के लिए पूँजी, कार्य करने के लिए श्रम समाज ने दिया, बेचने के लिए बाज़ार, विज्ञापन के साधन, मान-प्रतिष्ठा और ख्याति समाज ने दी। वह कच्चा माल लेता है, इस्पात में बदलता है, पुरज़े ढालता है, जोड़ता है, घड़ी बनती है, उसे बाज़ार में भेजता है, दूकानदार उसे बेचते हैं। ये सारे कार्य वह कहाँ

कर रहा है ? यह सब तो कर रहा है समाज, और जो प्राप्त हुआ उसे एकत्रित किये जा रहा है वह, जो कि सबसे कम हक़दार है। वह एक माध्यम है, एजेण्ट है। कच्चा माल खोदने, लादने, पिघलाने, साफ़ करने, ढालने, पुरज़ों को जोड़ने, पैंकिग करने, भेजने-पहुँचाने और बेचने के काम में कितने व्यक्ति लगे हैं। वह देख रहा है, निरीक्षण कर रहा है, अपितु तकनीकी दृष्टि से वह भी नहीं कर रहा है, नहीं कर सकता। वह जो 'प्राइस' या क़ीमत है उसका सारा का सारा कच्चा माल+श्रम है। वह जो प्रौफ़िट कहकर लेता है, श्रम की चोरी कर रहा है। अधिकांश वह ले लेता है, अल्पांश बचता है उन सबके लिए जो वास्तव में मालिक हैं उस अर्थ के। नीतिशास्त्र के अनुसार होना यह चाहिए था कि अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए वांछित राशि लेता, शेष लौटाता उनको, जिनकी वास्तव में है। जीवन के साधन उसके हैं, क्योंकि सबके हैं, इसलिए कि जीवन उसका और सबका है। सम्पत्ति के रूप में वह जो जमा कर रहा है, उसकी नहीं, किसी की भी नहीं, क्योंकि सबकी है। सम्पत्ति पर स्वामित्व स्तेय है, अदत्तादान है, चोरी है। ईशावास्योपनिषद् से लेकर मनुस्मृति तक, प्लेटो से लेकर मसीह तक, महावीर से लेकर मार्क्स तक यह आवाज़ उठती रही है और यह आवाज़ धर्म की है, सत्य की है। उसे न मानने के लिए हम स्वतन्त्र हैं, परिणाम से बचना सम्भव नहीं। मानने के लिए स्वतन्त्र हैं तब दुष्परिणामों से बच सकते हैं। आचार्य श्री तुलसी से एक व्यक्ति ने पूछा—'क्या भारत में रक्तक्रान्ति आनेवाली है ?' उन्होंने कहा—'आप ला रहे हैं तो आयेगी ही। आप नहीं लायेंगे तो नहीं भी आ सकती है।' बात आप पर निर्भर है। हर क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती है। प्रतिक्रिया से बचने का एकमात्र उपाय है उस क्रिया से ही बचना। दूसरा कोई उपाय नहीं। इसलिए महावीर कहते हैं :

वरं मे अप्पादंतो संजमेण तवेण य।
माहं परे हि दम्मंतो वंधणेहि वहेहि य॥

अच्छा है कि तप और संयम सादगीपूर्ण जीवन के द्वारा हम अपने आप पर नियन्त्रण करें, नहीं तो दूसरे ऊपर से बन्धन लादकर या बल प्रयोग कर हमपर नियन्त्रण करेंगे। स्वतन्त्रता का विकल्प परतन्त्रता है। परतन्त्रता का विकल्प स्वतन्त्रता है। तन्त्रहीन किसी का विकल्प नहीं है। वह अभाव है स्वतन्त्रता का, परतन्त्रता का भी। स्वतन्त्रता न होगी तो परतन्त्रता आ जायेगी। तन्त्रहीनता नहीं टिक सकती।

जीवन सारा का सारा तन्त्र है, व्यवस्था है, सन्तुलन है। असन्तुलन चल नहीं सकता लम्बे समय तक। उसे टूटना पड़ता है। विषमता चल नहीं सकती अधिक समय तक, उसे मिटना होता है। शोषण चल नहीं सकता अनिश्चित काल

तक, उसका विनाश होता है, उन्मूलन होता है। हिंसा का कोई भी रूप हो, प्रतिहिंसा को जन्म देता है।

कृषि हिंसा, व्याज अहिंसा ?

तीर्थंकर ऋषभ ने असि, मसि और कृषि विद्याएँ प्रारम्भ कीं। आज जैन समाज का बहुलांश कृषि को हिंसा मानता है, क्योंकि उससे छोटे-छोटे जीवोंका संहार होता है। महावीर के मन्तव्य में श्रावक के लिए कृषि-कार्य का कहीं भी निषेध नहीं है।

महावीर के श्रावक आनन्द अतीव उल्लेखनीय व्यक्ति हुए हैं। आनन्द के पाँच सौ हल चलते थे। व्यापक पैमाने पर खेती होती थी। आनन्द प्रमुख थे श्रावकों में। महावीर ने कभी नहीं कहा कि तू हिंसक है, श्रावक-धर्म से डिग गया। सद्दालपुत्र कुम्भकार है, घड़े बनाता है। मिट्टी को भिगोता है, रौंदता है, पीटता है, चाक पर घुमाता है, आग में पकाता है। महावीर उसके आवास-स्थान पर गये। नहीं गये श्रेणिक बिम्बिसार के राजमहलों में। सद्दालपुत्र के यहाँ गये, जबकि वह गोशालक का अनुयायी था। महावीर ने कभी नहीं कहा कि वह हिंसा कर रहा है। लेकिन खेती से, उत्पादक श्रम—प्रोडक्टिव लेबर—से हम बचते रहे और उसका विकल्प खोज लिया व्याज में। व्याज बड़ा अहिंसक धन्धा लगा हमें, जब कि व्याज से कितनी भयंकर हिंसा हमारे हाथों हो रही है उसका हजारवाँ हिस्सा भी शायद कृषि से नहीं होती होगी। आदमी की ग़रीबी, उसकी विवशता का लाभ उठाना, गिरवी सामान को, जो मूलधन से अधिक क़ीमती है, हो सकता है कि सर्वस्व हो उस ग़रीब का, जब्त कर लेना आदि हमें ठीक जँचा। उसके खेत से भी हम धन कमाने की कोशिश करते हैं, उसकी विपदा को और बढ़ाकर। जितनी विपदा बढ़ेगी, पैसा आयेगा। हृदयहीनता की सीमा यहाँ तक बढ़ गयी कि उपज होने पर भी उसे जमा कर नक़ली कमी पैदा कर लेते हैं। बंगाल का अकाल सारा का सारा मानव-निर्मित था। प्रकृति ने अच्छी फ़सल दी थी। सूखा नहीं पड़ा था। ओले नहीं गिरे थे। भरपूर अन्न था जिसे गोदामों में सहसा सारे व्यापारियों ने सरकार से, एक विदेशी सरकार से, साँठ-गाँठ करके भर लिया था। आदमी आदमी को खाने तक विवश हुआ। पचास लाख भूखे बंगालियों ने कीड़ों की तरह तड़प-तड़पकर दम तोड़ दिया। हिटलर ने लाखों यहूदियों को जिन्दा भट्टी में झोंक, तेजाब के फ़व्वारों में खड़ा कर, बिजली शरीर में दौड़ाकर, यन्त्रणामय तरीक़े से मरवाया। उसमें और बंगाल के उस अकाल में लाखों आदमियों को भूख से तड़पा-तड़पाकर मरवाने में क्या अन्तर था ? कितनी बड़ी हिंसा थी वह ?

मकान की कुड़की करवा लेना, बे-घर-बार कर देना उसे, ब्याज पर ब्याज लगाकर जीवन-भर के लिए चूसते जाना, उसका और उसकी पीढ़ियों तक का खून, इससे अधिक हिंसा की कल्पना भी की जा सकती है ? खेती के विकल्प में हमने व्यापार लिया। व्यापार में कोई खटपट नहीं, माल लाया और बेचा। प्रोफ़िट या लाभांश अपना रहा। कम क़ीमत पर एक साथ लेना, अधिक क़ीमत पर थोड़ा-थोड़ा बेचना, वितरण के बदले लाभांश लेना, यह व्यापार हुआ। यह लाभांश कैसे बढ़े, हमारी सबसे बड़ी चिन्ता यही है। क़ीमत बढ़े तब लाभांश बढ़ सकता है। क़ीमत तब बढ़ सकती है जब माल कम हो, उसकी माँग ज्यादा हो। इसका उपाय है माल को गोदामों में बन्द कर कमी पैदा करना, फिर ऊँचे से ऊँचे दाम पर बेचना। लाभांश की लालसा ने कालाबाज़ारी को जन्म दिया, एकाधिकार को जन्म दिया, जमाखोरी को जन्म दिया, विक्रय-कर से बचने के लिए दो नम्बर के खातों को जन्म दिया। अकाल पड़ता है, लोग भूखों मरते हैं। राष्ट्रीयता के नाते कर्तव्य होता है कि जिसके पास जितना भण्डार है खोल दे उसे, कम क़ीमत पर दे जीवन के आवश्यक साधनों को ताकि जीवन बच सके हज़ारों-लाखों आदमियों का जिनके साथ हम समष्टि की परिधि में जुड़े हैं। पर अकाल हमारे लिए स्वर्ण-अवसर है क़ीमत बढ़ाने का, लाभांश बढ़ाने का, अधिक से अधिक पैसा पाने का। अतः अकाल के साथ जमाखोरी और कालाबाज़ारी और बढ़ जाती है। दूसरों की भूख से भी हम लाभ कमाने की कोशिश करते हैं, दूसरों की विपदा से भी पैसा कमाने की कोशिश करते हैं। लूट में भागीदार बनाकर पुलिस और सेना की सहायता भी प्राप्त कर लेते हैं। भूखों की भीड़ अगर चावल-गोदाम को लूटने आती है तो राजनीतिज्ञ हमारे इशारे पर उसपर गोली चलवा देता है। वक्तव्य दे देता है। क़ानून के माध्यम से हमें कंगालों की उस भीड़ से बचा देता है जो हमारे द्वारा शोषित-पीड़ित होकर प्रतिकार करने आती है। क़ानून के माध्यम से वह हमें झोपड़ियों को जलाकर अपने महल खड़ा करने की अनुमति दे देता है। कला, धर्म, राजनीति सब कुछ खरीदकर निष्प्राण कर दिया है हमने। और हम आज भी इस भ्रम में पड़े हैं कि खेती नहीं करते, अतः बड़े अहिंसक हैं। महावीर का नाम लेते हैं, उसके नाम पर मन्दिर या धर्म-स्थान खड़े कर देते हैं, लड्डू बँटवा देते हैं, अतः बड़े आध्यात्मिक हैं, पुण्यात्मा हैं हम। महावीर साफ़-सपाट बात कहते हैं कि यह सब बकवास बन्द करो। अगर मुझे पाना है तो इसे छोड़ो और इसे पाना हो तो मुझे छोड़ो। दोनों एक साथ नहीं चल सकते। महावीर रहेंगे तो कालाबाज़ारी नहीं रहेगी। महावीर रहेंगे तो पैसे के लिए आदमी की भूख से, अभाव से, हीनभावना से, चरित्रहीनता से, भ्रष्टाचार से हिंसा नहीं होगी। महावीर रहेंगे तो स्वामित्व नहीं रहेगा श्रम

पर क्योंकि वह दूसरे के भाग का अपहरण है। अदत्तादान है, चोरी है। दोनों में से एक रह सकता है।

यह मैमन धन का देवता है, कुबेर है। प्रभु होगा तो धन-कुबेर की सत्ता ऐश्वर्य और छलयुक्त हिंसा नहीं हो सकेगी और यह सब होगा तो प्रभु का नाम लेते जाना बेईमानी है। महावीर इससे भी आगे की बात कहते हैं, जो अति भोजन करता है, वह भी चोर है। आवश्यकता से अधिक एक ग्रास खाना भी स्तेय है। 'मेरे-पन' की भावना ही स्तेय है। व्यक्तिगत स्वामित्वमयी जीवन-व्यवस्था ही स्तेय है। महावीर का स्तेय है, स्वामित्व-विसर्जन। सबका है वह, सबको मिले, बराबर मिले, किसी को कम नहीं, किसी को ज़्यादा नहीं। जो विसर्जन नहीं करता है, दूसरे के हिस्से पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है, वह 'स्तेय' कर रहा है, चोर है, भावी हिंसा-प्रतिहिंसा के विस्फोटों के लिए उत्तरदायी है। जो अर्थार्जन में दिन-रात लिप्त है, उचित-अनुचित साधनों से धन को बटोरने में लगा है, न वहाँ धर्म है, न नियम है, न चरित्र है, न शील है और न ही किसी प्रकार का तप है।

> जीवियं पुढो इहमेगेसि माणवाणं खेत्त-वत्थु-ममाय-माणाणं
> आरत्तं विरत्तं-मणि-कुंडल-सह-हिरण्णेण इत्थिआओ
> परिगिज्झ तत्थेव रत्ता
> ण एत्थ तओ वा दमो वा णियमो वा दिस्सति
> संपुण्णवाले जीविउकामे लालपमाणे मूढे विप्परियासुवेइ।

ऐसे लोग भी जीवित हैं जो खेत, वस्तु, मणि-कुण्डल, सोना-चाँदी, कामिनियों में आसक्त हैं, गिद्ध की तरह आँखें लगाये हैं, उन्हीं में तल्लीन हैं। उनको कोई तप या संयम या नियम दिखाई नहीं पड़ता। वे सम्पूर्णतः अज्ञानी हैं। अपने जीने से ही मतलब रखते हैं, लालची हैं, उनकी बुद्धि उलटी हो गयी है। महावीर जो कह रहे हैं वह बड़ा कटु सत्य है, दृष्टि-क्षेत्र ज़्यादा व्यापक है, बात ज़्यादा तीक्ष्ण है। महावीर यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे लोगों का सोना जागने से अच्छा है, दुर्बल होना बलवान् होने से अच्छा है :

> अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू।
> अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू॥
> अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू।
> अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू॥

पकड़ किसकी, निर्वाण किसका ?

☐

परिग्रह शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—ग्रहण करना या पकड़ना। जो पकड़ा गया है वह परिग्रह नहीं, जो पकड़े हुए हैं वह परिग्रह नहीं। परिग्रह है पकड़। पकड़ मन की है। यह मेरा, यह पराया—मन की यह भावना ही परिग्रह है। वस्तु का धर्म गुण है। वस्तु का उपयोग उसकी सार्थकता है, परिग्रह नहीं। वस्तु की मात्रा या संख्या परिग्रह नहीं है। उसके प्रति हमारा भाव, उसके द्वारा हमारा व्यवहार परिग्रह है। हमारे द्वारा उसका व्यवहार परिग्रह नहीं।

वस्तुओं में परिग्रह नहीं। वे निष्प्राण हैं। निष्प्राण न पकड़ता है, न छोड़ता है। उसका अपना व्यवहार नहीं होता है। वह व्यवहार नहीं करता, व्यवहृत होता है। उसका व्यवहार हम करते हैं। पकड़ हमारी होती है। अतः परिग्रह को वस्तुओं से मापा नहीं जा सकता। अपने आपमें वस्तुएँ कुछ भी हों, कितनी भी हों, इससे परिग्रह या अपरिग्रह-जैसा कुछ निष्पन्न नहीं होता। परिग्रह हमारी अपनी वृत्ति है, उसके ऊपर हमारी पकड़ है।

पकड़ किसकी ?

हम बहुत चतुर हैं। कहते हैं, संसार हमें नहीं छोड़ता। संसार ने यदि हमें पकड़ा होता तो मुक्ति असम्भव होती। वह हमें क्यों छोड़ता ? लेकिन यह जो पकड़ है यह संसार की हम पर नहीं, हमारी संसार पर है। बल्कि यह पकड़ ही संसार है। वस्तु-जगत् संसार नहीं, वह तो शुद्ध अस्तित्व है—'प्योर एग्जिस्टेंस'। यह पकड़ ही संसार है। यह पकड़ छूटना ही निर्वाण है। जो पकड़े हुए हैं, वही छोड़ सकता है। जो पकड़े हुए हैं ही नहीं, वह क्या छोड़ेगा ? फिर भी हम कहते हैं कि संसार ने पकड़ रखा है। दिखाते हैं जैसे हम कितने असहाय, कितने निर्दोष हैं। अकारण ही संसार की पकड़ में आ गये हैं। और हम आह्वान करते हैं महावीर, क्राइस्ट और बुद्ध का कि हमें इस पकड़ से मुक्त करे। कौन करे ? कैसे करे? हमारी पकड़ ही तो संसार है। वस्तु-जगत् तो घटनाओं का क्रम है, रूपाकारों की परिवर्तनशील श्रृंखला है। इसका अपना अन्तस्तत्त्व है, अपनी प्रक्रिया है, अपने नियम हैं और अपना अनुवर्तन है। घटनाएँ घटित हों तो हम कहाँ घटित होते हैं ? रूपाकार बनते-मिटते हों तो हम कहाँ बनते-मिटते हैं ? दर्पण पर सामने

गुज़रते हुए व्यक्ति की परछाईं पड़ती है। दर्पण उसे प्रतिबिम्बित कर देता है। व्यक्ति आया, प्रतिबिम्बित हुआ। व्यक्ति गया, प्रतिबिम्ब भी गया। दर्पण ज्यों का त्यों। अब दर्पण कहे कि मुझे इन व्यक्तियों ने पकड़ रखा है, परछाइयों से बांध रखा है, तो यह बात समझ में नहीं आती। न ये व्यक्ति अपनी परछाईं से दर्पण को पकड़ सकते हैं और न दर्पण उनको परछाईं में बांध सकता है।

दर्पण प्रतिबिम्ब नहीं, व्यक्ति भी प्रतिबिम्ब नहीं है। प्रतिबिम्ब है एक घटना, दोनों के मध्य एक प्रतिक्रिया। प्रतिक्रिया होती है। होती रहे। उससे कहां बंधता है व्यक्ति, उससे दर्पण को कहां बांधता है।

स्वस्थ या वस्तु-स्थ

हेनरी रौकफ़ेलर अमेरिका के सबसे बड़े धन-कुबेर थे। इतनी सम्पत्ति कि मुट्ठी भर-भरकर नदी में डालते रहे, फिर भी जीवन-भर समाप्त नहीं हो। सारे विश्व में उनका व्यवसाय-तन्त्र फैला था। हर पल करोड़ों का आदान-प्रदान चलता रहता था।

एक बार रौकफ़ेलर बीमार पड़ गये। भूख नहीं लगती थी। खाये तो वमन हो जाये। खाट पकड़ ली। बीमारी बढ़ती गयी। शरीर क्षीण होता गया। डॉक्टर आते, देखते तो कोई बीमारी नहीं पाते। बीमारी ही नहीं तो इलाज क्या करें? रौकफ़ेलर मरणासन्न हो गये।

एक दिन मन में आया—नौका विहार तो कर लें। मर तो रहे ही हैं। नौका में बैठे। नदी के मध्य आये। सहसा नदी में तूफ़ान आ गया। फेनिल तरंगें भुजंगिनियों की तरह नाव से टकराने लगीं। रौकफ़ेलर नाव में आराम-कुरसी पर बैठे हुए थे। नाव डगमगाने लगी। रौकफ़ेलर सोचने लगे—मैं इसमें न होता और नाव डूब जाती तो मेरा क्या डूबता? नाव में बैठा हूं इसलिए डूबने का खतरा है। इसी तरह अगर सारा धन लुट जाये तो मेरा क्या लुटता है? नाव अपने आपमें तैरे या डूबे इससे मेरा क्या बनता-मिटता है? यह जो नाव से मैंने अपने को जोड़ लिया है, इसीलिए नाव का डूबना मेरा भी डूबना है। यह जो मैंने अपने को धन से जोड़ लिया है, इसीलिए इसका लुटना मेरा लुटना है। मैं अगर मैं ही रहूँ, धन अगर धन ही रहे, तो इसका नफ़ा मेरा नफ़ा कहां है? इसका घाटा मेरा घाटा कहां है? यह जो नाव है, नदी पार करने का साधन है। यह मेरे लिए है, मैं तो इसके लिए नहीं? यह जो धन-सम्पत्ति है यह तो जीवन-यापन का साधन है। मैं तो इसके लिए अपने को यापित नहीं कर सकता। मैं तो अपने को इसका साधन नहीं बना सकता। और रौकफ़ेलर को प्रकाश मिल गया। धन ठीक है। बुरा नहीं, अच्छा भी नहीं। वस्तुमात्र। वस्तु जीवन के लिए अपेक्षित

है, अपने-आपके लिए तो नहीं। वस्तु जीवन का साधन है, साध्य तो नहीं। स्वामी हम अपने-आपके हैं, वस्तुओं का स्वामी बनकर क्या करना है? वस्तुओं का तो अर्जन करना, उपयोग करना, बस। दर्पण की तरह जो आये-जाये उसे प्रतिबिम्बित करते रहना, परछाईं को पकड़ना नहीं। यह सम्भव नहीं, उपादेय भी नहीं।

रौकफ़ेलर स्वस्थ होने लगे। पन्द्रह दिनों में उठने-बैठने, चलने-फिरने लगे। इसी बीच मालूम हुआ कि जो अरबों का घाटा हो रहा था, जिसकी चिन्ता ने उन्हें बीमार और मरणासन्न बना दिया था, वह हुआ ही नहीं, बल्कि उस व्यापार में उन्हें अपेक्षा से भी अधिक नफ़ा हुआ। रौकफ़ेलर के लिए अब नफ़ा और घाटा दोनों का पहले-जैसा अर्थ नहीं रहा था। काम को काम की तरह मन लगाकर करना, जो होता है, होता रहे। उनको इससे क्या? अगर नदी में उस दिन डूब जाते तो घाटा किसको होता? नफ़ा किसको होता? जो उनके न रहने पर होता ही नहीं, रहने पर क्यों होने लगा? उनको घाटा हो ही नहीं सकता, नफ़ा हो नहीं सकता। यह वस्तु-जगत् की, व्यवसाय-जगत् की बात है, वहीं रहे। रौकफ़ेलर तो अब न धन-कुबेर हैं, न कंगाल। यह तो मात्र रौकफ़ेलर है। जो है, उसका अनुवर्तन होता रहे। अपना काम तत्परता से करना है, जैसे सर्कस में रस्सी पर चलनेवाला सावधानी से क़दम सँभाल-सँभालकर चलता है। फिर जो हो, होता रहे, जो न हो, न हो।

रौकफ़ेलर को सम्बोधि प्राप्त हुई और वे स्वस्थ हो गये। स्वस्थ यानी अपने आपमें स्थित। रौकफ़ेलर तबतक बीमार थे जबतक कि स्वस्थ न थे, आत्मस्थ न थे। वह वस्तुओं में स्थित थे। धन का नफ़ा उनका नफ़ा था। धन का घाटा उनका घाटा था। वे धन में स्थित थे। व्यक्ति से वस्तु बन गये थे। वस्तु क्षीण हो तो वे बीमार, न हो तो बीमार नहीं। परन्तु वस्तुओं को रौकफ़ेलर से क्या लेना-देना। रौकफ़ेलर की पकड़ वस्तुओं पर थी, वस्तुओं की पकड़ उनपर थी नहीं। उन्होंने पकड़ा था उन्हें, मन के भीतर कहीं, उन्होंने ही छोड़ दिया वहीं से, और हो गये स्वस्थ। अब वस्तु-जगत् चले अपने नियमों से। रौकफ़ेलर का उससे क्या बनता-बिगड़ता है!

अपरिग्रह का अर्थ है स्वस्थ होना

अपरिग्रह का अर्थ है—स्वस्थ होना। अपने 'स्व' में स्थ—अवस्थित होना। परिग्रह का अर्थ है अस्वस्थ होना। 'अस्व' है, हमारा 'स्व' नहीं है। 'स्व' के बाहर का वस्तु-जगत् है, उसमें अवस्थित हो जाना। हम वस्तु नहीं, वस्तु 'हम' नहीं। फिर भी हम वस्तु-स्थ होते हैं, स्व-स्थ नहीं। वस्तुएँ तो स्वस्थ हैं, अपने

आपमें स्थित हैं, अपनी अवस्थिति से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं। इसलिए वस्तुएँ न अपरिग्रही होती हैं न परिग्रही। न अपरिग्रही बनती हैं न परिग्रही। पकड़ हमारी है, वस्तुओं पर नहीं, वस्तुओं के प्रति अपने ही भीतर। बाहर की पकड़ कोई माने नहीं रखती। वस्तुएँ साधन हैं, पकड़ों और काम में ले लो। कोई भी वस्तु, कितनी भी बड़ी संख्या या मात्रा में हो, इससे उनका क्या बिगड़ता है? हमारा भी क्या बिगड़ता है? लेकिन यह जो पकड़ है, हमारे अपने ही भीतर, वस्तुओं के प्रति, इसका न वस्तु-जगत् में लाभ है, न अन्तर्जगत् में। निरा पागलपन है यह, लेकिन पागलों की संख्या इतनी ज़्यादा हो गयी है कि जो अभी और इसी क्षण इस पागलपन से मुक्त हो जाता है उसे हम पागल क़रार देते हैं। उसे पत्थर मारते हैं, क्योंकि वह हमारे जैसा नहीं रहा। उसका अपराध है, बड़ा संगीन अपराध है कि वह हमारे जैसा नहीं रहा, अपने जैसा हो गया, जैसा कि उसे होना चाहिए था। "चिड़ियों के लिए घोंसले हैं, लोमड़ियों के लिए माँदें, लेकिन मानव-पुत्र के लिए सिर टिकाने को भी अपनी कोई जगह नहीं...." कहने-वाला मसीहा जब ललकारकर कहता है कि धन का आराधक प्रभु को नहीं पा सकता, स्वर्ग के दरवाज़े से नहीं गुज़र सकता चाहे ऊँट सुई के छेद से गुज़र जाये, तो हम खीझकर उसे कोड़े मारते हैं, काँटों का ताज पहनाते हैं और क्रॉस पर चढ़ा देते हैं।

विचारों का परिग्रह अधिक भयंकर

परिग्रह वस्तुओं का ही नहीं, विचारों का भी होता है। विचारों का परिग्रह वस्तुओं के परिग्रह से ज़्यादा खतरनाक होता है। हम जैसा जीवन पसन्द करें, हमारे जो विचार हों, जो भावनाएँ हों, वैसा ही जीवन, वैसा ही विचार और वैसी ही भावनाएँ दूसरों की हों—यही होता है वैचारिक परिग्रह। वस्तुओं के प्रति हमारी पकड़ तो हमें दास बनाती है, लेकिन विचारों के प्रति यह पकड़ तो सामूहिक दासता की ओर ले जाती है। कोई नया विचार पैदा होते ही मार दिया जाता है। कोई नयी खोज होते ही दबा दी जाती है। प्राणहीन जड़ समाज प्रस्तरीभूत होकर रह जाता है। हर गैलेलियो को यन्त्रणा देकर क़बूल करा लिया जाता है कि उसने जो यह कहा था कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है न कि सूर्य पृथ्वी की, यह सरासर झूठ है। यह शैतान के वश में होकर कही गयी है, भगवान् के प्रति अपराध है। हर कॉपरनिक्स को यह स्वीकार न करने पर गोली मार दी जाती है, जिन्दा जला दिया जाता है। बलात् धर्म-परिवर्तन कराये जाते हैं। न करने पर उलटा क्रॉस पर लटकाकर क्रॉस समेत जला दिया है। धर्म के नाम पर राष्ट्रों के टुकड़े हो जाते हैं और उनमें सतत शत्रुता एवं संघर्ष चलता

रहता है। धर्म-युद्धों में लाखों का खून पानी की तरह बहा दिया जाता है। रक्त की शुद्धि के नाम पर एक जाति दूसरी जाति का समूल नाश कर देती है या दास बनाकर बेच देती है। विचारों का परिग्रह वस्तुओं के परिग्रह से कम खतरनाक नहीं, कम शोषण और उत्पीड़नमय नहीं।

पकड़ विचारों के प्रति हो या वस्तुओं के प्रति, वह एक पकड़ है, परिग्रह है। विचार परिग्रह नहीं है, वस्तुएँ भी परिग्रह नहीं हैं। परिग्रह तो हमारी अन्तर्वृत्ति है। इसलिए मार्क्स जिसे पूँजीवादी कहते हैं वह महावीर के सन्दर्भ में परिग्रही नहीं भी हो सकता है और मार्क्स जिसे सर्वहारा कहते हैं वह भी महापरिग्रही हो सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि महावीर संग्रह को मान्यता देते हैं, उसका पोषण करते हैं और जो अकिंचन है उसकी उपेक्षा करते हैं। महावीर की भूमिका पर मूल्य आत्मा का है। देह का, वस्तुओं का, धन का, सत्ता का है ही नहीं। कोई ग़रीब हो सकता है, किन्तु मन के स्तर पर पकड़ धन की या विचार की है, वस्तु की है, आत्मा की नहीं अनात्मा की है, 'सेल्फ़' की नहीं, 'नॉन-सेल्फ' की है, तो वह परिग्रही है, इसमें सन्देह नहीं। यह वस्तु-जगत् की अपनी संयोजना है जिसे व्यक्ति या समाज अपनी व्यक्तिगत या सामूहिक इच्छा तथा प्रयास से अपने लिए बदल भी सकता है कि उसके पास धन नहीं, सत्ता नहीं। यह नहीं होना कोई गुण नहीं, 'क्वालिफ़िकेशन' नहीं। यह होना कोई दोष नहीं, 'डिस्क्वालिफ़िकेशन' नहीं। महावीर न धन के अभाव को त्याग मानते हैं, न धन के भाव को ग्रहण मानते हैं। ग्रहण मन का होता है। पकड़ मन की होती है। वह नहीं है तो किसी का क्या है? परिग्रह तो मिलकियत है, अधिपति होने का भाव है, अधिकार और अहंकार है। स्वत्व में नहीं, वस्तुत्व में जीना है। यही संसार है। यह छूट गया तो संसार कहाँ? निर्वाण ही है सर्वत्र।

●

महावीर का अपरिग्रह दर्शन

□

मूर्च्छा परिग्रह का आत्मपक्ष है। शोषण, वैषम्य और अन्याय उसका लोकपक्ष है। उसके समग्र लोकजीवन उत्पीड़ित होता है। महावीर कहते हैं, लोकपीड़ा वस्तुतः आत्म-पीड़ा है और आत्म-पीड़ा तत्त्वतः लोक-पीड़ा ही है। लोक और आत्मा के मध्य विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है। "जो लोक का अपलाप करता है वह अपना ही अपलाप करता है, जो अपना अपलाप करता है वह लोक का अपलाप भी करता है।" "जो लोक की आशातना करता है वह अपनी ही आशातना करता है। जो अपनी आशतना करता है वह लोक की आशातना करता है।

व्यक्ति और समाज अभिन्न

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से जुड़ा है जन्म से मरण तक। उसकी व्यक्तिमूलक सत्ता भी समाज के ही सन्दर्भ में है। समाज की अपनी सत्ता भी उसके ही सन्दर्भ में है क्योंकि उसकी समष्टि ही समाज है। समाज से मुक्त वही है जो अपने व्यक्ति से ही मुक्त हो गया, जिसका कुछ व्यक्तिगत रहा ही नहीं, जिसकी व्यक्तिमूलक सत्ता नहीं रही। अतः समाज के साथ व्यक्ति का आदान-प्रदानमूलक सम्बन्ध अनिवार्यतः रहता ही है।

इस स्थिति में अगर वह समाज के अहित का कारण बनता है तो वस्तुतः अपने ही अहित का निमित्त बनता है। क्योंकि समाज तो उसी की समष्टियों का ही समवाय है और हर व्यष्टि उसमें घुल-मिलकर एक हो गयी है। समष्टि अगर पीड़ित है तो व्यष्टि उस पीड़ा को अप्रत्यक्ष भोगती है, किसी न किसी रूप में। समाज अगर टूटता है, तो व्यक्ति टूटता है किसी न किसी रूप में। व्यक्ति का विराट् रूप समाज है। उसका कोई भी खण्ड टूटता है तो दरअसल व्यक्ति ही टूट रहा है।

दधीचि ऋषि की अस्थियाँ माँगकर इन्द्र ने वज्र बनाया। दधीचि ने समष्टिहित के लिए देह त्याग किया ताकि उनकी अस्थियाँ इन्द्र को मिल सकें, ऐसा एक वैदिक उपाख्यान है। दधीचि के पौत्र ने अपनी माँ से यह घटना सुनी। बड़ा कुपित हुआ कि देवों ने अपने हित के लिए उसके दादा का जीवन अकाल-

निःशेष करवाया, वृत्रासुर को मारने के लिए उनकी अस्थियाँ प्राप्त कर वज्र बनाया। उसने कुपित होकर देवों का विनाश करने की ठान ली। तपस्या कर संहार के देवता शिव को प्रसन्न किया। वरदान मांगा—'सारे देवता जल जायें।' शिव ने कहा—'वरदान देता हूं, लेकिन विकल्प के साथ। विकल्प यह कि जब तुम चाहोगे, संकल्प मात्र से इसे निष्फल कर सकोगे'। उनके 'तथास्तु' कहकर अदृश्य होने के साथ ही उसके रोम-रोम में आग लग गयी। तड़पने लगा वह; दौड़ने लगा वह व्याकुल होकर दुःसह मरण-वेदना से। वाध्यतः शिव को फिर पुकारा। शिव ने कहा—'देवता जल रहे हैं। देवता तुम्हारे भीतर ही हैं। वे जल रहे हैं इसका अर्थ है कि तुम जलकर मर जाओगे। तुमसे अलग देवता कहाँ हैं ? देवता या दानव जो भी हैं, तुम ही हो। कोई भी जलेगा तो तुम्हीं जलोगे।' उसने संकल्प किया कि यह वरदान निरस्त हो जाये। कोई नहीं जले। ज्वाला बुझ गयी, भीतर-बाहर सर्वत्र।

कहानी काल्पनिक हो सकती है। कहानी प्रायः काल्पनिक होती ही है। उसका अर्थ सत्य होता है। जीवन का एक महान् सत्य यहाँ साकार हुआ है। किसी की भी पीड़ा हमारी पीड़ा है, किसी का भी विनाश हमारा विनाश है।

संग्रह जन्म-दाता है शोषण का

अतः जीवन का सही मार्ग है इस प्रकार जीना कि उससे किसी का शोषण न हो, पीड़न न हो, किसी का अपलाप न हो, किसी की आशातना न हो। परिग्रह का लोक-पक्ष संग्रह है और जन्मदाता है शोषण का, गरीबी का, भूख का। अतः महावीर परिग्रह के लोक-पक्ष के निरसन की भी मर्यादा निरूपित करते हैं। यह प्ररूपण दो स्तरों पर है। साधु-साध्वी तो अनगार हैं अर्थात् उनका अपना आवास भी नहीं, वस्त्र भी नहीं, शरीर भी नहीं। अपना कुछ भी नहीं। वे भिक्षाजीवी होते हैं। संग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता, जहाँ उपार्जन ही नहीं है। गृहस्थ सामाजिक जीवन जीता है। उसके लिए अर्थ का उपार्जन आवश्यक है। जीवन-साधनों का संचय आवश्यक है। उसे इस प्रकार उपार्जित किया जाये कि किसी का उत्पीड़न न हो तथा आवश्यकतानुसार ही उपयोग किया जाये। उसके प्रति स्वामित्व की भावना कदापि न रहे। दूसरे के भाग का अपहरण न हो, इसकी जागरूकता रहे और इसके लिए यथासम्भव त्याग भी किया जाये। यह महावीर का गृहस्थ जीवन के सन्दर्भ में अपरिग्रहमूलक आदर्श है जिसकी व्रतों द्वारा निश्चित सीमाएँ बाँध दी गयी हैं। संग्रह के दो पक्ष हैं—उपार्जन पक्ष और उपभोग पक्ष। प्रथम उपार्जन पक्ष है। इस दृष्टिसे अनेक व्यवसायों को महावीर ने अतिचार माना है और उन्हें एकदम छोड़ देने की प्रेरणा दी है।

'इंगालकम्मे' अर्थात् जंगलात आदि को खेती योग्य जमीन तैयार करने के लिए जला देना। 'वणकम्मे' अर्थात् लकड़ी आदि के लिए जंगलों को कटवा देना। आज हमें इस बात का महत्त्व कुछ समझ में आ रहा है कि जंगलों की कितनी उपादेयता होती है, पेड़ों को काटने पर रोक लगायी जाती है, वन-महोत्सव द्वारा पेड़ लगाये जा रहे हैं। प्रथम दो अतिचार इसी सन्दर्भ में हैं। इसके आगे महावीर उन व्यवसायों का भी विसर्जन करते हैं जिनमें दूसरे प्राणियों को हानि हो। रेशम के व्यवसाय में कीड़े मरते हैं, राल या लाख के निर्माण में भी कीड़ों का निर्मम संहार होता है, अतः महावीर ने इन्हें अतिचार माना है। पशुओं पर अधिक भार लादना भी अतिचार है। सर्वत्र यह दृष्टि रही है कि किसी भी जीव का शोषण न हो, कीड़े मात्र का भी, पशु का भी। पोषण के बदले श्रम लिये जानेवाले पशुओं से भी अवांछित श्रम लेना अतिचार है। पशु जहाँ पानी पीते हों उस स्थान को कृत्रिम उपायों से सुखाकर काम में लेना भी अतिचार है। नटी—वेश्या आदि को संरक्षण देकर उनकी आय का संग्रह करना भी महावीर विवर्जित करते हैं। इसके अन्तर्गत आज के विशाल होटलों का भी समावेश होता है जहाँ पैसे की क़ीमत पर सेक्स का मनमाना व्यापार होता है। महावीर इसे अतिचार मानते हैं। इन व्यवसायों के वर्जन के बाद व्यावहारिक स्तर पर व्यावसायिक प्रक्रियाओं में समाविष्ट होनेवाली अनैतिकताओं को भी उन्होंने वर्जित किया है। कूटतोल-कूटमाप अर्थात् देते समय कम तोलना या मापना अतिचार है, लेते समय अधिक तोलना या मापना अतिचार है। तस्कर-व्यापार या 'स्मगलिंग' का महावीर ने स्पष्ट निषेध किया है। राजकीय क़ानूनों के विपरीत हर प्रकार के व्यवसाय को, छिपे हुए आय-स्रोतों को उन्होंने अतिचार माना है। हर प्रकार की अनैतिकता, चाहे वह माल को छुपाकर कालेबाज़ार में बेचना हो, एकाधिकार—मोनोपोली द्वारा दूसरों को गिराना हो, आय का ग़लत हिसाब रखना हो, इन सबको जिसमें लुकाव-छिपाव है, अप्रामाणिकता है, महावीर अतिचार मानते हैं और उनका विसर्जन करते हैं। महावीर के अनुसार चलनेवाला श्रावक न जमाखोरी कर सकता है, न दो नम्बर के खाते रखकर करों की चोरी कर सकता है, न कालाबाज़ारी कर सकता है, न छल-प्रपंच से प्रतियोगिता में दूसरे व्यावसायियों को गिरा सकता है, न मानव या पशु का किसी प्रकार से शोषण कर सकता है। अगर जैन समाज व्यापारिक प्रामाणिकता का महावीर-प्रणीत आदर्श सामने रखकर जीता तो वह देश का सर्वाधिक सम्मानित व प्रामाणिक समाज होता।

संग्रह का मूल है इच्छा

दूसरा पक्ष है—इच्छा-परिमाण। संग्रह का मूल इच्छा है। इच्छा आवश्य-

कता से अलग चीज होती है। आवश्यकता है शरीर की और इच्छा है मन की। आवश्यकता है पौष्टिक आहार, ग्रीष्म-शीत से बचाने के योग्य वस्त्र तथा हवा-पानी से युक्त आवास। आवश्यकता का परिमाण नहीं हो सकता। वह अपने आपमें न्यूनतम ही होती है। आवश्यकता शरीर की है। साधु-साध्वियों को भी आवश्यकता-पूर्ति करनी पड़ती है। यह परिग्रह नहीं है।

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पाय पुंछणं।
तं पि संजम लज्जट्ठा धारेन्ति परिहरन्ति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो..........................।

जो वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि साधन हैं वे मात्र संयम जीवन धारण करने के लिए हैं। ये अनिवार्य हैं। परिमाण करने का नियम है इच्छाएँ जो अबाध छोड़ने पर कभी तृप्त होती ही नहीं। महावीर के शब्दों में :

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा हु आगाससमा अणंतया॥

"कैलाश पर्वत जितने बड़े सोने-चांदी के अगणित ढेर हों, तो भी लोभी मानव का मन उनसे सन्तुष्ट नहीं होता, क्योंकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त होती हैं।" इच्छाओं का अतिरेक ही संग्रह, शोषण, विषमता और हर प्रकार की अप्रामाणिकता का हेतु बनता है। अगणित व्यक्तियों को विपन्न कर जीवन-साधनों की उपलब्धि के लिए अनैतिक बनने को बाध्य करता है। भारत की वर्तमान स्थिति को देखा जाये तो सारा दृश्य अमर्यादित इच्छाओं की कुत्सा को प्रतिबिम्बित करता है। अतः महावीर प्रारम्भ में ही इच्छा-परिमाण-व्रत तथा अतिचार-विवर्जन द्वारा अर्जन को मर्यादित करने का मार्ग निरूपित करते हैं।

इच्छा-परिमाण के साथ-साथ महावीर ने दिशा-परिमाण का भी विधान दिया। दिशा-परिमाण का सीधा-सादा अर्थ है कि व्यक्ति अपनी आर्थिक-व्यावसायिक गतिविधियों के लिए क्षेत्रीय सीमा बांध ले और उसका अतिक्रमण न करे। साधारणतः व्यक्ति जब क्षेत्रीय सीमाओं को तोड़कर दूसरे क्षेत्रों में जा बसता है और वहाँ के पूर्व स्थापित व्यावसायिक ढांचे को तितर-बितर कर अपने को प्रतिष्ठापित करता है, प्रतिस्पर्द्धा में उतरकर दूसरों को विस्थापित कर देता है, उससे शोषण और संघर्ष के नये आयाम खुल जाते हैं। उसके अपने क्षेत्र को उससे कोई लाभ नहीं होता। विशाल पैमाने पर यान्त्रिक उद्योगों का विकास होता है जिनका जमाव बड़े नगरों में होने से भीड़-भाड़, गन्दी बस्तियाँ, गाँवों से आये मजदूरों के लिए व्यसन-पीड़ित जीवन का स्रोत बनता है। गाँवों की क्षेत्रीय स्वायत्तता तथा स्वावलम्बन समाप्त हो जाने से वे शहरों के मुखापेक्षी बन जाते

हैं। आज सर्वत्र यह हो रहा है। शहर बेकारों से भरे हैं तथा गाँवों में खेत वीरान पड़े हैं। महावीर के देश-परिमाण-व्रत से इस असन्तुलन का निरसन स्वयं हो जाता है।

दिशा-परिमाण का प्रयोग

यह एक मिथ्या धारणा है कि क्षेत्रीय सीमाधिकरण से कुटीर और गृह-उद्योगों पर आधारित अर्थ-व्यवस्था आदिम स्तर की होगी। मूलतः ऐसा नहीं है। जापान की औद्योगिक प्रगति एशिया के लिए ही नहीं, सारे विश्व के लिए एक चुनौती है। भूगोलवेत्ता जानते हैं कि वहाँ कच्चा माल नहीं मिलता। उन्हें बाहर से मँगाना पड़ता है। भूकम्पों के निरन्तर आगमन के कारण औसत भवन छोटे और एक तल्ले के ही होते हैं, कुछ महानगरों को छोड़कर, जैसे टोकियो। भूमि कृपियोग कम है, अतः अनाज भी प्रायः बाहर से मँगाना पड़ता है। फिर भी वह देश इतनी तीव्र प्रगति कर रहा है कि अमेरिका के अर्थशास्त्री हर्मन कीन का कहना है : "इस शताब्दी के अन्त तक जापान विश्व का सबसे धनी और ताक़तवर देश होगा।" अमेरिका को वह १९८५ में ही पीछे छोड़ देगा। यह सब अकल्पनीय-सा लगता है, जबकि हम यह देखते हैं कि वहाँ कच्चा माल पैदा नहीं होता, कृषि-पैदावार नगण्य होती है। बाहर से कच्चा माल मँगाकर उसे श्रम एवं तकनीक के द्वारा तैयार माल में बदलना और उन्हीं देशों में बेचना, यही आधार है वहाँ की अर्थ-व्यवस्था का। भारत के दक्षिण-पूर्वी भाग में मोनोजाइट रेत में यूरेनियम की भारी मात्रा है लेकिन उसे यहाँ निकाला नहीं जा सकता। जापान भेजा जाता है जहाँ तकनीक एवं श्रम के बलपर वे यूरेनियम निकालते हैं। यूरेनियम संसार की सबसे महँगी धातु है। परमाणु-ऊर्जा के लिए उसी का सर्वाधिक उपयोग होता है। वहाँ वह प्राप्य नहीं होने पर भी यहाँ से कच्चा माल उपलब्ध कर प्राप्त कर ली जाती है और यहाँ उपलब्ध होने पर भी उसका कोई लाभ नहीं उठाया जाता।

गान्धी जी ने लघु एवं कुटीर उद्योगों की बात कही। इसका अर्थ भारी यन्त्रों एवं कल-कारखानों द्वारा उत्पादन के केन्द्रीकरण से बचाव था, मशीन या किसी भी तकनीक का परिवर्जन नहीं। आधुनिकतम विज्ञान की खोजों, तकनीकी उपलब्धियों का उपयोग लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास तथा परिष्कार में किया जा सकता था। गान्धी जी की यह परिकल्पना थी कि गाँव-गाँव में बिजली पहुँचे, 'ट्यूब वेल हर खेत में हों, नहरों का जाल सर्वत्र बिछे, छोटी-छोटी मशीनों का घर-घर में प्रयोग हो। लेकिन पश्चिमी संस्कारों में पली-पुसी पीढ़ी ने उनके रखे को स्थूल आदिम प्रतीक समझा एक अर्द्ध-साम्य अर्थ-व्यवस्था का और

विमुख रहे उसकी मूल प्रेरणा से। अतः दूसरा रास्ता चुना जो इस जनसंख्याबहुल देश के लिए बेकारी, भुखमरी, विषमता, शोषण एवं मानवीय श्रम के अवमूल्यन तथा अनुपयोग का स्रोत सिद्ध हुआ। भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि ने अपनी एक सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'जाब्स फ़ॉर द मिलियन्स' 'करोड़ों के लिए रोजगार' में यही लिखा है कि लघु एवं कुटीर उद्योगों के परिष्कार तथा विकास और कृषि की उन्नति एवं विस्तार से ही बेरोज़गारी तथा विपन्नता का प्रतिकार किया जा सकता है जो गान्धी जी का आदर्श था।

श्री अरविन्द भाई मफतलाल ने इस दिशा में एक प्रयोग किया है जो भावी दिशाओं की ओर एक सफलतामूलक संकेत है। उन्होंने अपने बम्बई स्थित कारखानों के मजदूरों के मूल स्थानों की जानकारी एकत्रित की और पाया कि वे एक विशेष भूभाग के गाँवों के अधिवासी थे। उन्होंने उनको पुनः अपने गावों में बसा दिया, घर पर ही काम-कुटीर उद्योगों के स्तर पर व्यवस्थित रूप से बाँट दिया और कारखाने का कार्य केवल संयोजन एवं परिष्करण तक ही रखा। पाया गया कि इससे उत्पादन बढ़ा, काम अच्छा हुआ, मजदूरों की आर्थिक स्थिति सुधरी, शहरी जीवन में ग्रहीत व्यसन एवं बुराइयाँ छूटीं और सरल, सादा तथा सुखी जीवन बना। श्री मफतलाल इस प्रयोग को अपने अन्य कारखानों में भी आगे बढ़ाना चाहते हैं। महावीर के देश-परिमाण-व्रत से यह सब कुछ स्वयं मूर्त हो जाता है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत

उसके बाद उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत है। अतिचारों से अलग प्रामाणिकतापूर्वक, शोषण-मुक्त तरीक़ोंसे उपार्जित अर्थ भी उतना ही उपयोग में आये जितना जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए अपेक्षित हो। शेष विसर्जित कर दिया जाये—उनके लिए जो अर्जन के सहयोगी रहे हैं ताकि उनको उचित हिस्सा मिल सके। उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत एक प्रकार का स्वैच्छिक सीमाधिकरण है—'वॉलेण्टरी सीलिंग', जिसमें सबको आवश्यकतानुरूप जीवन-साधन स्वयं उपलब्ध होते हैं। यह किसी का दूसरे पर उपकार नहीं है। जो व्यक्ति अनिवार्य आवश्यकताओं से अधिक अर्थ का संग्रह एवं उपभोग करता है वह दूसरों को उनके आवश्यक जीवन-साधनों से वंचित करता है। महावीर के शब्दों में वह 'स्तेय' (चोरी) करता है, अदत्तादान ग्रहण करता है, अर्थात् वह जो उसे नहीं दिया गया उसे उसने छल-बल से लिया है। इच्छापरिमाण भाव-पक्ष है, उपार्जन के लक्ष्य को सीमित करता है तथा उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत इसी का कर्म-पक्ष है जो उपलब्ध आय का उपयोग सीमित करता है। दोनों व्रत एक दूसरे

के पूर्वोत्तर पक्ष मात्र हैं। एक के अभावमें दूसरे का पालन बहुत कठिन है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत के अन्तर्गत सहज-सादा जीवन-यापन करते हुए जो धन बच जाता है, उसे विसर्जित करना है। वह स्वाभाविकतया वितरित हो जाता है उनमें जो अर्थ-उपार्जन-पक्ष से जुड़े हैं। अकेला व्यक्ति तो व्यावसायिक उत्पादन और क्रय-विक्रय कर नहीं सकता। सबका श्रम ही परिणमित होता है हर आर्थिक उपलब्धि में, अतः वह एक व्यक्ति की नहीं, सबकी है। बाज़ारभावों से श्रम की क़ीमत नहीं आंकी जा सकती। बाज़ार-दर पर वेतन देकर यह नहीं समझा जा सकता कि शेष सब किसी व्यक्ति का है। स्वामित्व किसी का भी नहीं, वह सबका है। उसका उपयोग अपनी आवश्यकतानुसार करते हुए शेष उनको लौटा देना आवश्यक है जो उसके उपार्जन में सहभागी हैं, क्योंकि बहुलांश उन्हीं का है।

विसर्जन का यह सूत्र अगर महावीर के अनुयायियों ने कम से कम अपने जीवन में अपनाया होता तो राष्ट्रीय समाज में एक रक्तहीन समाजवादी क्रान्ति कभी की हो चुकती, देश का सारा सामाजिक-आर्थिक ढांचा ही बदल जाता और यह समाज भारत का ही नहीं अपितु एशिया का सबसे प्रगतिशील और तेजस्वी, सुखी और समृद्ध समाज होता। उस अर्थ-व्यवस्था में जो उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत तथा विसर्जन जो अपने जीवन में साकार करती है, शोषण, विषमता, भ्रष्टाचार और संग्रह हो नहीं सकता। इसके परिणामस्वरूप हड़ताल भी नहीं हो सकती। कालाबाज़ारी, कर-चोरी, तस्कर-व्यापार, कूटतौल-कूटमाप, किसी भी प्रकार की अप्रामाणिकता इसमें कल्पनातीत बात होती।

स्वामित्व-विसर्जन के प्रयोग

जापान में मित्सुई और मित्सुबिसी सबसे बड़ी कम्पनियां हैं। वहां के प्रबन्धकों ने मज़दूरों के लिए आवासगृह अपनी ओर से बनवाये हैं। कम्पनी के भवन का ही एक भाग गुलाबी रंग का है जिसमें आराम और आमोद-प्रमोद के सारे साधन हैं। वह नवविवाहित कर्मचारी के रहने के लिए है जहां वह खुशी से अपने वैवाहिक जीवन के प्रथम छह मास बिता सके। उसके बाद वह सामान्य आवास-केन्द्र में चला जाता है जो हर कर्मचारी को उपलब्ध है। कम्पनी का अपना बाज़ार है जहां नियत एवं नियन्त्रित क़ीमत पर दैनन्दिन आवश्यकताओं का सामान बिकता है। उसका प्रबन्ध भी कर्मचारियों द्वारा होता है। कम्पनी का अपना बैंक भी है जहां दूसरे बैंकों से अधिक ऊँची ब्याज पर कर्मचारी का रुपया जमा रखा जाता है। वह धन कम्पनी के काम आता है, कर्मचारी को ऊँचा ब्याज मिलता है, जो दोनों के लिए हितकर है।

एक बार मित्सुबिसी कम्पनी के निदेशकों की बैठक में प्रस्ताव रखा गया कि कर्मचारियों को जो दोपहर में नाश्ते का डेढ़ घण्टे का विश्राम-काल मिलता है उसे कम कर दिया जाये तो पाँच आदमी द्वारा उतना काम हो सकता है जितना आठ आदमी करते हैं। अर्थ-विशेषज्ञ की इस सिफ़ारिश को मानने से वहाँ के निदेशकों ने सर्व-सम्मति से इनकार कर दिया। जब कर्मचारियों को यह सूचना मिली तो वे इतने प्रसन्न हुए कि छुट्टी के समय में काम करके उन्होंने कुल उत्पादन दुगुना कर दिया जिसकी अर्थ-विशेषज्ञ को कल्पना तक न थी। भारतीय उद्योगपतियों के लिए यह अकल्पनीय है। यही कारण है कि आये दिन हड़तालें होती रहती हैं, घेराव और तालाबन्दियाँ होती रहती हैं। जापान में अब तक केवल एक हड़ताल हुई है जो २१ दिनों तक चली। वह वहाँ के राष्ट्रीय श्रम-संस्थान द्वारा आयोजित थी और उसका लक्ष्य राजनीतिक था, आर्थिक नहीं।

ये सब स्वामित्व-विसर्जन के उदाहरण हैं जिसका सूत्र महावीर ने अपनी आर्थिक परिकल्पना में दिया है। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी ने आज समग्र जैन समाज को विसर्जन का मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी है और इसे आसन्न रक्तक्रान्ति से बचने का एकमात्र उपाय बताया है। उन्होंने सबल शब्दों में कहा है कि दूसरों की विपन्नता पर विलास के प्रासाद खड़े करना हिंसक विप्लवों की अटूट श्रृंखला को आमन्त्रित करना है जिसे भारतीय समाज, और उसके अंग रूप में जैन समाज भी, करता आ रहा है। सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा करने से व्यवसाय-तन्त्र अपने को खतरे में डालता ही है, पूरे देश को भी हिंसा के गर्त में घसीटकर ले जाता है।

इन सब व्रतों में सर्वत्र व्याप्त है अपरिग्रह-दर्शन। भावना के स्तर पर वह ममत्व का विसर्जन है और लोकजीवन में व्यवस्था के स्तर पर स्वामित्व का विसर्जन। महावीरप्रणीत अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्वामित्व (प्राइवेट ओनरशिप) के लिए कोई स्थान नहीं है। मार्क्स स्वामित्व को एक वर्ग से छीनकर दूसरे वर्ग को देने की बात सोचता है किन्तु महावीर स्वामित्व का सम्पूर्णतः उन्मूलन स्वस्थ आर्थिक-सामाजिक जीवन-व्यवस्था के लिए आवश्यक मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अर्थ-तन्त्र से बाहर निकलकर खड़ा हो जाये, संसार छोड़कर निकल जाये, श्रामण्य पर्याय ग्रहण कर ले जो न प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है न व्यवहार्य ही। इसका अर्थ इतना ही है कि व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण क्षमता और ज्ञान का नियोजन कर प्राप्त अर्जन में से अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसमें से उपयोग करे और शेष विसर्जित कर दे। इन सबसे ऊपर की बात यह है कि स्वामित्व की भावना न इसमें रखे जिसका उपभोग-परिभोग कर रहा है न उसमें जिसका विसर्जन कर रहा है। वह स्वामी

नहीं है, मात्र सेवक है, मात्र प्रहरी है समाज का। गान्धी जी की 'ट्रस्टीशिप' की प्रकल्पना भी यही थी कि व्यक्ति अपने को समाज की सम्पत्ति का ट्रस्टी समझे। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने रिपब्लिक में स्वामित्वमुक्त आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का एक आदर्श चित्र उपस्थित किया है जो महावीर के अपरिग्रह-सूत्र के समकक्ष है।

मार्क्स का संकल्प : महावीर का विकल्प

□

मार्क्स का जीवन परम कारुणिक है। मानव मात्र के पीड़ित जीवन को देखकर उसके अन्तःकरण में जो करुणा का विस्फोट हुआ वह एक सीमा तक बुद्ध की विश्व-करुणा की ही प्रतिकृति है। उसके कारण, निवारण और साधनों की खोज भी बुद्ध के चार आर्य सत्यों की तरह सीधी और सपाट है। बुद्ध ने जैसे आत्मा, ईश्वर आदि से सम्बद्ध प्रश्नों को अव्याकृत कहकर हटा दिया था, कुछ वैसे ही मार्क्स भी धर्म को अफ़ीम कहकर हटा देता है, क्योंकि जो धर्म का ज्ञात रूप है वह अन्धविश्वास, भाग्यवाद एवं निष्क्रियता का समर्थक है तथा जो मूल धर्म है वह जन-सामान्य तक पहुँच ही नहीं पाया है। वैसी ही स्थिति बुद्ध की रही होगी जब उन्होंने इन प्रश्नों को ही हटाया क्योंकि वे जानते थे कि उसकी भूमिका तक लोक-दृष्टि पहुँच नहीं पायेगी और लोक-दृष्टि तक उतरकर उनके शब्द अपनी अर्थवत्ता खोकर नये अन्धविश्वासों, मन की वासनाओं के स्रोत बनेंगे। इसी कारण जो बुद्ध इन प्रश्नों को ही नकारते हैं, उनका जीवन प्रतिबिम्बित करता है इन्हीं के उत्तर को; और जो मार्क्स धर्म को अफ़ीम कहता है उसका जीवन साकार करता है प्रेम और करुणा, विश्व-मैत्री एवं बलिदान की भावसत्ता और तदनुकूल आचार को। उसने शोषण, उसके कारण, कारणों को निवारित करने का लक्ष्य तथा उसके उपलब्धि के साधन निरूपित किये। लेकिन लोक-जीवन में उनसे शोषणमुक्त समाज की अवतारणा न हो सकी।

मार्क्स-दर्शन की बुनियादी-भूल

मार्क्स के दर्शन में एक बुनियादी भूल रही है और वह है—मानव के संस्थागत रूप पर ऐकान्तिक बल तथा उसके मानवीय रूप का सम्पूर्णतः विस्मरण। उसने अपने विचार का आधार यह सूत्र बनाया कि समाज में शोषण का कारण वर्ग-भेदमय सामाजिक ढाँचा है जिसे बदल डालने पर उसका अन्त हो जायेगा। उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रतिपत्ति पर आधारित है कि मन-जैसी कोई सत्ता नहीं है, बाहरी परिस्थितियों के मानव पर जैव-रासायनिक प्रभावों को ही मन की अभिधा दी जाती रही है। अतः जैसा बाहरी वातावरण होगा, मन वैसा ही बन जायेगा। मानवीय मन की सारी प्रवृत्तियाँ बाहरी वातावरण को ही

प्रतिबिम्बित करती हैं।

ऐमिल बर्न्स के शब्दों में : "पदार्थ प्राथमिक सत्ता है, मन उसके आधार पर विकसित। अतः आदमी का शारीरिक अस्तित्व उसके अपने जीवन और जीवन के तरीक़ों के पहले आता है। दूसरे शब्दों में सिद्धान्त से पहले व्यवहार आता है। संस्थाएँ और विचार हर युग के वातावरण की उपज हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व और इतिहास नहीं है, उनके मूल में कोई विचार या मनोभाव नहीं बल्कि उत्पादन के भौतिक प्रयास के समानान्तर उनका विकास होता रहता है।"

इस अवधारणा ने मानवीय मन और उसके वातावरण को बदलने की स्वतन्त्र क्षमता को एकदम अमान्य कर दिया। मानव और उसका मन वातावरण की, संस्थाओं की उपज है, उनको प्रतिबिम्बित मात्र करता है, अतः उन्हें बदलते ही समस्याओं का समाधान निकल जायेगा। मार्क्स भूल गया कि शोषण का जन्म पहले मन के धरातल पर अहंकार और स्वार्थ के रूप में होता है, तदनन्तर वह आचरण में उतरता है और सामूहिक आचरण संस्थाओं के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। बाहरी ढांचों को बदलते रहने पर भी मन का धरातल अगर वही है तो हर ढांचा खोखला होगा जिसके छिद्रों से मन अपनी वासनाओं और कामनाओं की आपूर्ति करता रहेगा, शोषण और उत्पीड़न द्वारा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है स्टालिन या व्यक्तिवादी एकाधिपत्यवाद, जिसने सामाजिक सत्ता को अपनी पूजा का उपकरण बना डाला और मार्क्स के सामाजिक आदर्शों को अपने जीवन एवं शासन-काल में एकदम उलट दिया। इसी की निष्पत्ति था वह नौकरशाही वर्ग जो आर्थिक-राजनीतिक सत्ता पाकर उनका स्वयं स्वामी बन गया और शेष जनता का उत्पीड़क तथा शोषक भी; जबकि उसे यह सब सौंपा गया था एक लोकसेवा के उपकरण-रूप में, एक न्यास या ट्रस्ट-रूप में।

दूसरी भूल

दूसरी भूल मार्क्स ने, विशेषतः उसके उत्तराधिकारियों ने, जो की वह साध्य-साधन-विवेक की विस्मृति थी। हिंसा नंगी सत्ता है और सत्ता ही वैषम्य की जनक है। मार्क्स ने रक्तपात एवं संहार की बात अपने पूरे वाङ्मय में नहीं कही यद्यपि 'संग्राम' की चेतावनी पूँजीवादी व्यवस्था को सर्वत्र दी है। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने रक्त-क्रान्तियों को साम्यमूलक समाज-क्रान्ति का आधार बनाया। पाशविक शक्ति से जो व्यवस्था प्रतिष्ठित होती है वह अपने आपमें शोषणमयी होती है चाहे उसका रूप कुछ भी हो। जब आचारीय प्रतिमानों का समापन हो जाता है तब स्थिति और भी विषम हो जाती है। लेनिन ने कहा—

"राजनीति में कोई नैतिकता नहीं होती, अनिवार्य आवश्यकता ही एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु होती है। एक बदमाश मात्र बदमाश होने के कारण भी प्रयोजनीय हो सकता है।....हमें धोखाधड़ी, विश्वासघात, क़ानून-भंग और झूठ बोलने आदि के लिए तत्पर रहना चाहिए। जिनसे हमारा मतैक्य नहीं है उनके प्रति हमारी शब्दावली ऐसी ही होनी चाहिए जिससे जन-साधारण के मन में उनके प्रति घृणा, विरक्ति और अरुचि पैदा हो।...." अतः साम्यवादी चिन्तन में ही आत्मघाती तत्त्वों का प्रवेश हो गया। साम्य एक नैतिक अपेक्षा है, नैतिकता का नकार साम्य का भी मूलतः नकार है। पूँजीपति मज़दूरों का शोषण करें या मज़दूर सत्ता ग्रहण कर पूँजीपतियों का, वैषम्य और शोषण दोनों स्थितियों में रहता है। पूँजीवाद व्यक्तिसत्ता पर टिका हो अथवा राजसत्ता पर, वह पूँजीवाद ही रहता है। इसी कारण साम्यवादी क्रान्तियों की निष्पत्ति राज्य पूँजीवाद—स्टेट कैपिटलिज़्म में हुई। राज्य के मूल में भी व्यक्ति है अतः वह मूलतः उसी प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था रह गयी जैसी कि पहले थी। उसके साथ एकदलीय तानाशाही जुड़ने से मानवीय बुनियादी स्वतन्त्रताओं का अपहरण भी हो गया। व्यक्ति की दासता और अधिक भयावह तथा असहनीय हो गयी। साम्यवाद की विकृतियों के बीज उसकी मूल वैचारिक आधार-भूमि में ही छिपे थे, जिनका प्रकट होना अपरिहार्य था।

महावीर की करुणा

महावीर की करुणा भी मानवमात्र की नहीं अपितु जीवमात्र की पीड़ा का सतत बोध कर उसके निवारणार्थ मार्ग खोज रही थी और वर्षों की तप-साधना के बाद उसने कुछ मूलभूत सत्य निकालकर प्रस्तुत किये। महावीर का अपरिग्रह, उनकी अहिंसा समग्र जीवन-सत्ता के परम सत्य को साकार करते हैं। परिग्रह को उन्होंने हिंसा माना है और अपरिग्रह को अहिंसा की एकमात्र शर्त। परिग्रह को उन्होंने मूर्च्छा माना है और अपरिग्रहको जागरण का प्रतीक। परिग्रह को उन्होंने शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार एवं वैषम्यके अलावा प्रमाद, लापरवाही, अज्ञान एवं आत्मविस्मृति का स्रोत भी अनुभव किया है। महावीर और मार्क्स की मूल दृष्टि में अन्तर यही है कि जहाँ मार्क्स को पूँजीवादी व्यक्ति घृणास्पद प्रतीत होता है, महावीर उसे करुणा का पात्र अनुभव करते हैं। क्योंकि वह वस्तु-केन्द्रित होकर अपनी आत्मसंज्ञा खो चुका है; जीवित शव की तरह आत्मचेतना-शून्य काल-यापन कर रहा है; चिन्ता, क्रोध, तनाव, वेदना के असंख्य शल्यों से अपने को निपीड़ित कर रहा है। किसी उन्मत्त कापालिक की तरह सर्वत्र घृणा तथा वैर का बन्ध कर रहा है। वह मूर्च्छित है, एक प्रकार का मानस-रोगी है जिसका सहानुभूतिपूर्वक

उपचार अपेक्षित है और उसका एकमात्र मार्ग है उसकी चेतना का जागरण। परिग्रह का जन्म मन के धरातल पर जिस मूर्च्छा में होता है, वस्तु-जगत्के साथ चैतन्य का जो छलनामय तादात्म्य है उसी को तोड़ना आवश्यक है। भौतिक जगत्का घटनाचक्र तो मानव-चेतना के अतल गह्वर में घूमनेवाले भाव-चक्र की प्रतिच्छाया मात्र है। अतः महावीर का मार्ग है मन की चिकित्सा, अन्तः-रूपान्तरण, चेतना का जागरण। वहीं से वह मानसिक अणु-स्फोट हो सकता है जो व्यक्ति को भीतर-बाहर से बदल दे, उसके पारिवारिक-सामाजिक जीवन-व्यवहार को परिवर्तित कर दे, शोषण एवं वैषम्य का उन्मूलन कर शोषणविहीन साम्य-मूलक समाज की रचना में जो निष्पन्न हो सके। इस दृष्टि से महावीर और मार्क्स की भूमिकाओं में एक बुनियादी अन्तर है। मार्क्स जहाँ ऊपरी अभि-व्यक्तियोंको बदलने का निष्फल प्रयास करता रहा है वहाँ महावीर उसे ही बदलने की प्रेरणा देते हैं जिसके वे सब प्रतिबिम्ब मात्र हैं। महावीर हिंसा का ही प्रतिकार करते हैं और शोषण हिंसा का एक प्रकार है। वे लोभ को निवारित करने की प्रेरणा ही नहीं देते अपितु उसके कारण और निवारण के स्रोत भी निरूपित करते हैं। प्रमाद हिंसा का मूल है, लोभ या अहं या वासना तीनों इसके प्रतिबिम्ब मात्र हैं, मन के धरातल पर तथा शोषण और विषमता परिणतियाँ हैं उसकी। प्रमाद समाज का जितना शत्रु है उतना व्यक्ति का भी। अपितु व्यक्ति की सारी सत्ता को ही खा जाता है वह। अतः महावीर प्रमाद को ही हिंसा कहते हैं, कर्मबन्धन कहते हैं, मरण और नरक कहते हैं और उनका सारा विचार अप्रमाद पर केन्द्रित है। सम्पूर्ण व्यक्ति का रूपान्तरण उनका लक्ष्य है क्योंकि व्यक्ति ही बुनियादी इकाई है सारे सामाजिक-राष्ट्रीय संगठनों की। महावीर मार्क्स से अधिक मूलग्राही हैं। उनका मार्ग लम्बा हो सकता है लेकिन एकमात्र सही मार्ग वही है। छोटे मार्गकी खोज में बहुत प्रयास हो चुके—फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति से लेकर संसार के आधे देशों में साम्यवादी क्रान्ति तक और उनकी निष्पत्तियाँ मानवता के लिए कल्याणकारी नहीं रही हैं। मार्क्स ने हिंसा का जो मार्ग बताया उसमें भी सामान्य आचारीय प्रतिमानों का नकार नहीं था। छल, फरेब, कृतघ्नता और विश्वासघात के लिए उसमें स्थान नहीं था। वह हिंसा मात्र प्रतिक्रिया थी, मात्र विद्रोह थी। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने सारे प्रतिमानों को ही नकार दिया। महावीर शोषण को हिंसा मानते हैं, हिंसा को एक प्रकार का शोषण ही मानते हैं। अतः शोषण से शोषण का विनाश सम्भव नहीं है, यह उनकी स्पष्ट मान्यता है। महावीर शोषण को अनाचार मानते हैं, तथा अनाचार मूलतः शोषण ही है, यह भी जानते हैं, अतः उनका मन्तव्य है कि अनाचार के एक प्रकार से उसके दूसरे प्रकार का उन्मूलन सम्भव ही नहीं है।

शोषण का अस्वीकार

महावीर ने वैषम्य और शोषण के प्रतिकार का मार्ग बताया वह सम्पूर्णतः अहिंसक है। उसमें मानवीय चेतना की तेजस्विता है, सामाजिक चेतना की समवेत शक्ति है, संगठन का बल है। असहकार और अवज्ञा के जिन अहिंसक शस्त्रों का गान्धी जी ने भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राममें प्रयोग किया वे महावीर के द्वारा सर्वप्रथम तीन करण और तीन योग के रूप में निरूपित किये जा चुके हैं। महावीर के मार्ग का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति अपनेमें एक विस्फोटित परमाणु की तरह अपार शक्ति का साकार पुंज है जो सारे समाज में क्रान्तियों की एक शृंखला प्रसारित करने में समर्थ है, जैसे एक टूटा परमाणु शेष सारे परमाणुओं में शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया (चेन रीएक्शन) पैदा कर अपार शक्ति का स्फोट कर देता है। असहकार एवं अवज्ञा की शक्ति का जागरण अगर देश के सारे श्रमिकों में हो तो पूँजीपति उनका शोषण एक क्षण भी नहीं कर सकते। शोषण इसलिए होता है कि हम उसके प्रति भीतर से असहमत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि इसमें से प्रत्येक शोषित दूसरों के लिए स्वयं शोषक बन जाता है, इस कारण शोषक की सत्ता का समापन नहीं कर पाता। अगर शोषण का भीतर से उन्मूलन हो तो एक छोटा-सा समुदाय भी समाज को बदल सकता है। मूल समस्या संख्या की नहीं, शुद्धि की है। जिस देश का हर व्यक्ति दूसरे से पहले अपना काम अन्यायपूर्वक भी करवा लेना चाहता है उससे भ्रष्टाचार कैसे विदा होगा ? जिस समाज का हर व्यक्ति अपने से कमज़ोर को दबाकर आगे बढ़ जाना चाहता है उस समाज में शोषणविहीन समत्व की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ? मूल समस्या यह नहीं है कि शोषण है बल्कि यह कि हमने उसे स्वीकार कर रखा है, प्रतिष्ठा दे रखी है। हर व्यक्ति अपने लिए शोषण का नकार करता है, दूसरों के लिए स्वीकार करता है। इस स्थिति में कितनी ही रक्त-क्रान्तियाँ क्यों न हों, शोषणविहीन समाज-संरचना एक असम्भव प्रकल्पना मात्र रहेगी। जन-जन की चेतना का रूपान्तरण हो, शोषण के प्रति सब व्यापक सन्दर्भों में नकार का स्वर उठायें तो असहकार एवं अवज्ञा की शक्ति द्वारा समाज के सामने एक ऐसी क्रान्तिकारी स्थिति प्रस्तुत की जा सकती है जिसमें बदलने या मिटने के अलावा उसके सामने कोई विकल्प ही नहीं रहे। जो संगठित लोक-शक्ति अवज्ञा और असहकार से एक विराट् साम्राज्य को ध्वस्त कर सकती है, वह सारी मानवता के पुनर्नवीकरण में भी सक्षम है, लेकिन अहिंसा का अधिष्ठान समत्व है, अपने और दूसरों के मध्य मन के धरातल पर। अगर हमारे भीतर दूसरों से स्वयं को विशिष्ट समझने तथा उनके अहित की क़ीमत पर अपना हित-साधन करने की मूल प्रवृत्ति क़ायम है तो हम किसी भी क्रान्ति द्वारा, चाहे वह हिंसक हो या

अहिंसक, समाज से शोषण का अन्त नहीं कर सकते। महावीर का मार्ग शुद्धि का है—धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

अगर महावीर के जीवन्त सत्यों का लोक-जीवन के धरातल पर सम्यक् अवतरण होता तो लोकतन्त्र का रूप ही बदल जाता, समाज की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाएँ ही बदल जातीं, परिवार और व्यक्ति के अन्तःसम्बन्ध ही बदल जाते तथा समग्र मानवता का अन्तःरूपान्तरण हो जाता।

०

गान्धी और महावीर

□

गान्धी जी का जीवन मूलतः अध्यात्म-केन्द्रित था। लेकिन उनका अध्यात्म ऐकान्तिक अनुभूति नहीं था, वह अनुभूति उनके जीवन में व्याप्त हो गयी थी और अनायास ही उनका समग्र जीवन अध्यात्म के विराट् विकरण का केन्द्र बन गया था। विश्व के हर धर्म-प्रचेता का जीवन उसके अनुभूत सत्य को साकार करता है। दार्शनिक व्यक्ति चिन्तन करता है, निष्कर्ष निकालता है, उन्हें प्रचारित-प्रसारित करता है। उसका दर्शन बौद्धिक स्तर पर तर्क-वितर्क से उद्‌भूत होता है, अतः मान्यता मात्र बनकर रह जाता है। वह अपने और दूसरों के जीवन-रूपान्तरण का हेतु नहीं बनता। फ्रान्सिस बेकन एक महान् दार्शनिक था, एक प्रख्यात नीति-शास्त्री था लेकिन उसका अपना जीवन भ्रष्टाचार से भरा था जिसके लिए उसे जेल तक जाना पड़ा। विचार व्यक्ति को बदल नहीं सकता। वह बुद्धि तक सीमित है और बुद्धि मन के ऊपरी स्तर तक ही रहती है। धर्म अन्तश्चेतना से स्फूर्त होता है, सीधी अनुभूति (डाइरेक्ट एक्सपीरिएन्स) होता है, अतः वह समग्र जीवन का रूपान्तरण कर देता है। धर्म-प्रचेता मात्र उपदेशक या ज्ञानी नहीं होता, उसके जीवन से धर्म विकीर्ण होता है। महावीर, बुद्ध, क्राइस्ट और गान्धी इसी प्रकार के व्यक्ति थे। गान्धी जी अध्यात्म की उस अनुभूति पर खड़े थे जो सब आत्मचेताओं की है—जीवन-सत्ता के अखण्ड अद्वैत का बोध, अपने में सबको तथा सबमें अपने को एकरूप अनुभव करना। यही उनका सत्य था जिसे उन्होंने भगवान् की अभिधा दी—'ट्रुथ इज़ गॉड'। उनसे चौबीस शताब्दियों पूर्व भगवान् महावीर घोषित कर चुके थे : सच्चं भयवं—सत्य ही भगवान् है। वैदिक परम्परा में सत्यनारायण की मान्यता का आधार यही था कि सत्य ही नारायण है, जो सत्य नहीं है वह नारायण नहीं है। आज उसका उलटा अर्थ कर लिया कि नारायण ही सत्य है, शेष सब झूठा है। इसलिए वह सब पूजा का विषय बन गया, जीवन-क्रान्ति का सन्देश और उसकी महत्ता खो बैठा। सत्य अनुभूति से जीवन-व्यवहार में उतरता है तो अहिंसा बन जाता है। गान्धी जी ने कहा—'सत्य की खोज में निकलने पर सर्वप्रथम मुझे अहिंसा मिली।' अहिंसा उन्हें मिली थी अपने भीतर सत्य की खोज करने पर। वह अन्तःस्फूर्त थी, अपने भीतर जो सत्य था वही

विकीर्ण होने लगा अहिंसा में बाहर। महावीर की अहिंसा भी यही थी। आज हम अहिंसा को एक सिद्धान्त, एक आचार-सूत्र बनाकर ग़लती कर रहे हैं, एक ऐसी ग़लती जो हजारों दार्शनिकों एवं आचार-शास्त्रियों ने की है। इसी कारण हमारी अहिंसा एक शास्त्र बन गयी है, एक बौद्धिक विचार बन गयी है, मनो-विलास का साधन बन गयी है, ऊपर से आरोपित व्यवहार बन गयी है। प्राणहीन आचार-संहिता या भावना-शून्य निषेधों का संकाय हो गयी है। महावीर या गान्धी की अहिंसा मात्र कोई व्रत नहीं थी। व्रत से अहिंसा निष्पन्न हो ही, यह अनिवार्य नहीं। उससे एक सीमा तक स्थूल प्राणातिपात कम किया जा सकता है, बाहरी क्रियाओं को किंचित् नियन्त्रित किया जा सकता है। लेकिन वह 'प्रवचन माता' नहीं बन सकती। 'प्रवचन माता' वही हो सकती है जो भीतर प्रकाशित हो और बाहर के वाणी—आचारमय सारे स्तरों पर स्वतः उसका आलोक विकीर्ण हो।

अहिंसा और अपरिग्रह का अनिवार्य सम्बन्ध

अहिंसा अनिवार्यतः अपरिग्रह से जुड़ी है। भीतर जो व्यक्ति सबमें अपने को अनुभूति करता हो उसका स्थूल शरीर—केन्द्रित व्यक्तित्व-बोध मिट चुका होता है। स्वामित्व की भावना रहती ही नहीं तब, संग्रह की कामना रहती ही नहीं तब, शोषण एवं अन्याय वह कर ही नहीं सकता किसी के प्रति, क्योंकि सब वही स्वयं तो है। अपना शोषण स्वयं कैसे करे? अपने को वंचित रखकर अपने को समृद्ध कैसे बनाये वह? यह सम्भव ही नहीं। गान्धी जी का अपरिग्रह-दर्शन और भगवान् महावीर का अपरिग्रह-विचार इसी से निष्पन्न है। उनका स्रोत भीतर का सर्वात्म-तादात्म्य है जो करुणा एवं प्रेम की भावना में तथा विसर्जन और बलिदान के व्यवहार में साकार होता है। गान्धी जी ने राम-राज्य की कल्पना में पूर्ण समतामय समाज की अवधारणा प्रस्तुत की थी और धनपतियों से कहा था कि वे सारे समाज की सम्पत्ति के न्यासी (ट्रस्टी) मात्र हैं। न्यासी शब्द संन्यासी का समानार्थक है। हम संन्यासी का अर्थ भिखारी या घरबार छोड़कर अलग-अलग रहनेवाला व्यक्ति मानते हैं। लेकिन उसका सीधा-सादा अर्थ है—वह व्यक्ति—जिसका स्वामित्व किसी वस्तु या व्यक्ति पर नहीं है, वह मात्र संरक्षक है उसका जो उसके पास है, अपनी न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति जीवन-यापन के लिए उसमें न्यायपूर्वक अंश लेकर करता है, शेष की रक्षा करता है, उसे वह विसर्जित किये हुए है समाज को, स्वयं को भी उसने विसर्जित कर दिया है, अपने जीवन और जीवन-साधनों को भी अपना नहीं मानता है। मूलतः संन्यास 'ट्रस्टी-शिप' की वृत्ति से जीना है, जंगल या गुफा में जाना, विशेष प्रकार के कपड़े

पहनना या नंगा रहना आदि नहीं है। महावीर भी इन सबको द्रव्य संस्कार ही मानते हैं। गान्धी जी की 'ट्रस्टीशिप' की परिकल्पना, महावीर का अपरिग्रह तथा कृष्ण की 'संन्यास-भावना' सामाजिक समता के लिए आवश्यक थी और समता अहिंसा की आधार-पीठिका होने से गान्धी जी के सत्य को साकार करने का माध्यम थी, उनके ईश्वर का कलेवर बनने के कारण अध्यात्म की अनिवार्य जीवनापेक्षा थी। उसे स्पष्ट करते हुए विनोवा ने गान्धी जी के बारे में अपने एक वक्तव्य में कहा है—"आज के समाज की अपेक्षा दास्यभक्ति नहीं, सख्यभक्ति है, मालिक और नौकर की धारणाएँ अकाम्य लग रही हैं। अतः मैं कहता हूँ व्यक्तिगत स्वामित्व का खातमा होना आवश्यक है।...गान्धी जी के 'ट्रस्टीशिप' का अन्त मजदूरों को थोड़ा-सा ज़्यादा वेतन देने से ही नहीं होगा, इसका मूल अर्थ है समय गुज़रने के साथ ट्रस्टी भी नहीं रहना चाहिए।"

सन् १९१६ में हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास-समारोह में उपस्थित राजे-महाराजाओं को सम्बोधित करते हुए गान्धीजी ने कहा था—"ऐसे मूल्यवान् आभूषण पहननेवाले राजे-महाराजे और सरदार लोग जबतक इन्हें अपने देश-बन्धुओं को नहीं दे देते तबतक उनकी ग़रीबी दूर कैसे हो सकती है? ब्रिटिश-शासित हिन्दुस्तान में या अपने राजाओं की रियासतों में जब कभी कोई आलीशान इमारत बनवायी जाने की खबर मैं सुनता हूँ तो मेरे मन में विचार आता है—अरे, रे, यह सारा रुपया किसानों से ही ठगा गया है। जबतक हम स्वयं किसानों को लूट रहे हैं या औरों को लूटने दे रहे हैं तब तक स्वराज्य पाने की हमारी तड़प सच्ची नहीं कही जा सकती। किसान ही हमारे दुःख-विमोचन के सच्चे आधार हैं, डॉक्टर, वकील या ज़मींदार नहीं।"

स्वराज्य की परिभाषा में उन्होंने कहा—"सच्चा स्वराज्य मैं उसे कहता हूँ जिसका उपयोग ग़रीब भी कर सकता है।"

भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व ही बापू यह घोषित कर चुके थे कि आज़ादी की अन्तिम लड़ाई में किसानों को सरकार को कर देना बन्द कर देना चाहिए। इसपर लुई फिशर ने पूछा—'क्या हिंसापूर्वक?' गान्धीजी ने कहा—'हाँ, हिंसा भी हो सकती है। १५ दिनों के लिए अव्यवस्था भी क़ायम हो सकती है। परन्तु मेरा खयाल है कि हम शीघ्र ही उसपर क़ाबू पा लेंगे।' समाजव्यापी शोषण एवं वैषम्य के प्रति गान्धीजी की अन्तर्वेदना मार्क्स के तीव्र आवेश के साथ यहाँ प्रस्फुटित हुई है। इसका बाह्यरूप उतना ही उग्र है जितना कि मार्क्स-प्रणीत क्रान्ति का, लेकिन प्रक्रिया के मूल में अहिंसक शक्ति का तीव्र प्रयोग है—सम्पूर्ण अवज्ञा और असहकार के रूप में जिसको उन्होंने 'सत्याग्रह' कहा है। उनसे जब प्रश्न किया गया कि धनी लोगों का ग़रीबों के प्रति कर्तव्य-बोध कराने में सत्या-

ग्रह का क्या स्थान है तो गान्धीजी ने ३१ मार्च १९४६ के 'हरिजन' में उत्तर दिया—"वही जो विदेशी सत्ता के खिलाफ सत्याग्रह का स्थान है। सत्याग्रह सार्वभौम प्रयोग के लायक एक नियम है।"

वर्ग-संघर्ष नहीं, वर्ग-सहकार

वर्ग-संघर्ष के स्थान पर उन्होंने वर्ग-सहकार का सूत्र दिया जिसका मूल स्रोत था अन्तःपरिवर्तन। यही महावीर का भी अपरिग्रह-सूत्र था—प्रेम और करुणा-मयी सर्वात्म-तादात्म्यानुभूति का स्फोट। लेकिन उसमें संघर्ष का नकार नहीं था, संघर्ष की द्वैषमूलक भावना का नकार था। अहिंसात्मक प्रतिकार को आर्थिक समत्व के लिए संघर्ष का सूत्र गान्धी ने भी माना है तथा महावीर ने उनसे पूर्व माना है।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था

गान्धीजी विशाल कल-कारखानों के स्थान पर लघु एवं कुटीर उद्योगों पर अर्थ-व्यवस्था को प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। उनकी भावना विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था थी। जिसमें शोषण तथा वैषम्य की सम्भावनाएँ कम से कम हों, क्षेत्रीय स्तर पर देश की हर इकाई स्वायत्त हो, स्वावलम्बी हो। श्रम को वे पूजा की तरह एक पवित्र यज्ञ मानते थे। चरखा चलाने को भी उन्होंने एक प्रकार का यज्ञ माना है। उन्होंने लिखा—"अमेरिका इस वक़्त दुनिया का सबसे आगे बढ़ा हुआ देश माना जाता है, फिर भी उस देश में ग़रीबी का, मनुष्य को भ्रष्ट करनेवाली बुरी आदतों का और बुराइयों का नाश नहीं हो पाया। इसका कारण यह है कि मनुष्य मात्र में रहनेवाली शक्ति का उपयोग करने के बजाय वहाँ अपार धन कमा लेनेवाले बहुत थोड़े व्यक्तियों के हाथों में सत्ता एकत्रित हो गयी है। उसका परिणाम यह हुआ है कि अमेरिका का औद्योगीकरण वहाँ की ग़रीब जनता के लिए और संसार के शेष भाग के लिए भी बहुत खतरनाक हो गया है।"

गान्धीजी ने अपनी आँखों में विषमता और शोषण के लौहचक्र के नीचे पिसते भारत के जन-जन को देखा जो भारी औद्योगीकरण का प्रतिफल था। उन्होंने जून १९४७ के हरिजन में लिखा—"आज घोर आर्थिक विषमता है। समाजवाद का आधार आर्थिक समानता है। अन्यायपूर्ण विषमताओं की मौजूदा परिस्थिति में, जिसमें चन्द लोग धन-वैभव में सिर तक डूबे हैं और जनता को खाने को भी नहीं मिलता, रामराज्य क़ायम नहीं हो सकता।" इसका उपाय एक ही है और वह यही है—"भारत का उद्धार तो इसी में है कि उसने पिछले पचास वर्षों में जो कुछ सीखा है, उसे भूल जाये।" महावीर का दिशा-परिमाण, आरम्भ-समारम्भ की अल्पता का आशय यही था जिसे सही सन्दर्भों में समझकर देश अपनाता तो हमारी आर्थिक स्थिति का कायापलट हो जाता, जापान की तरह। विसर्जन और अपरिग्रह, इच्छा-परिणाम और उपभोग-परिमाण-व्रत शोषण-मुक्त स्वस्थ समाज-रचना की आधार-पीठिकाएँ हैं।

●

महावीर और पैसा

□

आदमी जब से पैदा हुआ उसे रोटी, कपड़ा और आश्रय-स्थान की आवश्यकता रही—रोटी खाने के लिए तथा कपड़ा और आश्रय-स्थल प्रतिकूल मौसम से बचने तथा विश्रान्ति के लिए। ये जीवमात्र की आवश्यकताएँ हैं। प्रकृति ने पशु-जगत् को शरीर के साथ ही वस्त्र दे दिये हैं। भोजन एवं आश्रय की आवश्यकता उनको भी होती है जो वे प्रकृति से पूरी करते हैं। मानव की भी आवश्यकता-पूर्ति का स्रोत प्रकृति ही है। खाद्य जमीन से ही पैदा होता है, वस्त्र के लिए कपास जमीन से ही पैदा होती है, ऊनके लिए जिन पशुओं के केश काम आते हैं वे जमीन पर ही पैदा होते हैं, वहीं आश्रय या पोषण पाते हैं। रासायनिक तत्त्व भी जमीन से ही हैं। जमीन के अलावा आदमी के लिए या किसी जीवधारी के लिए अन्य स्रोत नहीं है।

व्यवस्था के नाम पर स्वामित्व की दीवारें

यह जमीन आदमी की जननी है। उसका कोई स्वामी नहीं—न आदमी, न जानवर। लेकिन आदमी जब अनिश्चित जीवन-पद्धति पर आया, सभ्यता का निर्माण हुआ तो व्यक्तिगत या सामूहिक ताक़त के बल पर जमीन पर अधिकार करने लगा और दूसरों को अपनी जमीन का लाभ लेने से रोकने लगा। गाँव बसे, शहर बसे, नगर और देश बसे। सीमा-रेखाएँ बनीं। आज इन सीमा-रेखाओं में बँध गया है सारा संसार। हर देश मालिक है अपनी जमीन का। हर प्रान्त मालिक है अपनी जमीन का। हर शहर, गाँव, परिवार और व्यक्ति मालिक है अपनी जमीन का। अपनी जमीन से जो पैदा होता है वह उसका, दूसरे की जमीन से जो पैदा होता वह दूसरे का। जीवन ज्यादा पेंचीदा हुआ। आवश्यकता बढ़ने लगी। उनकी पूर्ति के साधन भी बढ़े। एक व्यक्ति या परिवार सब कुछ न बना सका। कार्य का विभाजन हुआ। वस्तुओं का आदान-प्रदान शुरू हुआ। माध्यम बना विनिमय। विनिमय में एक कठिनाई थी, कम या अधिक, स्थिर मापदण्ड नहीं था। एक माध्यम चाहिए था—एक वस्तु जिसके विनिमय में कुछ भी पाया जा सके तथा कुछ भी विनिमय में देकर जिसे पाया जा सके। पैसा एक ऐसा माध्यम बना। पैसा पैदा हुआ कि विनिमय व्यवस्थित हो गया।

भाव तय हो गये। व्यापार का जन्म हुआ। सब कुछ पैसे के विनिमय में सुलभ हो गया। वस्तु के लिए पैसा चाहिए। पैसे के विनिमय में वस्तु मिलने लगी। जिसके पास वस्तु नहीं वह श्रम के विनिमय में पैसा पाने लगा। मालिक और नौकर बने, कारीगर और उद्योगपति बने। आदमी खरीदने-बेचने का साधन बन गया। दासप्रथा बहुत अमानवीय लगी। मानव की संवेदना ने विद्रोह किया। सहस्राब्दियों तक यह प्रथा चलकर समाप्त हो गयी। शरीर का क्रय-विक्रय बन्द हुआ प्रत्यक्ष रूप में। अप्रत्यक्ष रूप में चालू रहा। श्रम के रूप में शरीर बिकने लगा। व्यक्ति शरीर बेचता था—तब भी साधन था, वस्तु मात्र। व्यक्ति श्रम बेचने लगा—तब भी साधन रहा, वस्तु मात्र। वेश्या शरीर बेचने लगी, पैसा पाने लगी, शरीर-सुख का साधन बनकर। शरीर, श्रम, सुख, सहयोग सब बिकने लगा। सेक्स भी बाजार में आ गया, वस्तु बनकर। जो प्यार की क़ीमत पर लिया-दिया जाता था पवित्र भाव से, प्रजोत्पत्ति का उपादान बनाया था जिसे प्रकृति ने, वह देह-स्नायु-तृप्ति का हेतु बना और बिकने लगा पैसे की क़ीमत पर। पैसा पैसे को खरीदने लगा, वस्तु को खरीदकर अधिक पैसों में बेचकर संगृहीत होता गया, संगृहीत धन से श्रम खरीदकर वस्तु रूप में अधिक पैसों में विक्रय कर और संगृहीत होता गया। पैसा व्याज के रूप में दिया जाकर बढ़ाने लगा पैसे को। पैसा पैसे से कमाया जाने लगा। श्रम गौण बात हो गयी, मूल रह गया पैसा। संग्रह हुआ और संग्रह की लिप्सा बढ़ती गयी। अनैतिकता, भ्रष्टाचार और अत्याचार के नये-नये प्रारूप सामने आने लगे। जन-जीवन पिसने लगा। विषमता बढ़ने लगी। एक तरफ़ संग्रह ने विलास और अपव्यय को जन्म दिया, दूसरी ओर शोषण तथा विषमता को निरन्तर विस्तार मिलने लगा। एक ओर गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी हो गयीं, वातानुकूलित प्रेक्षागृह बने, सुरा-सुन्दरी का जमाव होता गया तथा दूसरी ओर झोपड़ियाँ उजड़ने लगीं, शरीर नंगे और क्षुधा-जर्जर होते गये। जीवन के मूलभूत साधनों के विनिमय का स्रोत जीवनघाती बन गया। आज पैसे का आयाम तीव्रता से फैल रहा है, आदमी छोटा होता जा रहा है। महल खड़े हो रहे हैं, झोपड़ियाँ जल रही हैं। मदिरालय वातानुकूलित हो रहे हैं और लाशें सड़कों पर सड़ रही हैं। मिठाइयों के ढेर पर कुत्ते खेल रहे हैं और आदमी दूसरे आदमी की क़ै खाने तक विवश हो गया है। नियोन बत्तियों से महानगर के चौराहे जगमगाते हैं और कूड़ों के ढेर पर नर-कंकाल अन्न के सड़े-गले दाने बीन-बीनकर खा रहे हैं। यह पैसा जो जीवन का साधन था सारे समाज के लिए, बहुसंख्यक समाज की मौत बन गया। व्यक्तिगत स्वामित्व, जो बर्बर युगीन पाशविक शक्ति राज्य (माईट इज़ राइट) को मिटाकर सामाजिक जीवन में न्यायपूर्ण संविभाग का साधन था, आज मानव-

मात्र की विपन्नता, शोषण, अन्याय एवं मरण का शस्त्र बन गया है। प्रकृति से दूर जाकर मानव ने स्वामित्व की सृष्टि की, स्वामित्व ने पैसे को जन्म दिया और पैसा मौत बन गया है मानव की; वर्ग-भेद, वर्ग-घृणा और वर्ग-संघर्ष का हेतु बन गया है।

यन्त्र मानव का सबसे बड़ा शत्रु

मार्क्स ने उस समय जन्म लिया जब योरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी। अब तक मानवश्रम का प्रतिद्वन्द्वी पशुश्रम था। मानवश्रम उससे श्रेष्ठ था क्योंकि मानव में कुशलता थी, पशु में नहीं। मशीनें बनीं। मानवीय कुशलता ने जन्म दिया मशीनों को। बौद्धिक परिपक्वता ने जन्म दिया यन्त्रों को। यन्त्रों का परिष्कार करता गया मानव अपनी कुशलता से। जो कुशल श्रम मानव का एकाधिकार था वह उससे छिन गया। यन्त्रों का श्रम कुशलता और परिमाण दोनों में मानवीय श्रम से अधिक था तथा सस्ता भी, क्योंकि उसके लिए कच्चा माल कोयला या बिजली था। लोहा और कोयला मानव के मित्र बनकर आये, शत्रु बन गये। यन्त्र मानव के सहायक बनकर आये, मौत बन गये। मानवीय श्रम का मूल्य घटता गया। क्योंकि यन्त्रों ने स्थान लेकर उसकी आवश्यकता कम कर दी। यन्त्रों का श्रम सस्ता भी था जितना कि मानव-श्रम हो नहीं सकता था। क्योंकि रोटी, कपड़ा और आवास देना अनिवार्य था। उसका श्रम खरीदने के लिए, उसे कम से कम जिन्दा रखने के लिए। वह जीवन-साधन था श्रम का। उसके प्रति भावनात्मक लगाव या मानवीय संवेदना नहीं थी। अन्य साधन मिलते गये, उसकी आवश्यकता कम होती गयी, उसकी उपेक्षा बढ़ती गयी। आदमी यन्त्रों के साथ प्रतिस्पर्द्धा में हार गया। जीवित रहने के लिए आधा पेट खाने को, चिथड़े पहनने को, झुग्गियों में रहने को, यहां तक कि सड़क पर, मिट्टी के ढेर पर रहने को भी तैयार हो गया। पर यन्त्र अधिक सस्ते थे, वह फिर भी महँगा था। बेकारी बढ़ती गयी, भूख बढ़ती गयी, आवश्यकता की चीजें कालाबाजार में अधिक क़ीमतों पर बिकने लगीं, तस्कर-व्यापार होने लगा, मिलावट होने लगी, पैसे की क़ीमत भी कम होती गयी। पैसे के लिए अकालों की, कृत्रिम अभावों की सृष्टि होती गयी। लाखों आदमी चावल के गोदामों में बन्द कर मार डाले गये, केवल एक प्रान्त में। यह हमारे ही देश की घटना थी। संसार के अन्य देशों में भी पैसे के लिए मानव की इतनी क्रूरता की मिसाल शायद ही मिले। महल बनते गये, विलास बढ़ता गया, अपव्यय बढ़ता गया, सामाजिक लेन-देन का स्तर बढ़ता गया, कुरीतियाँ बढ़ती गयीं, व्यसन बढ़ते गये, और इन सबमें पैसे का व्यय बढ़ता गया और आय न्यूनतम से न्यूनतम हो गयी,

होती जा रही है। पचपन करोड़ के देश में, जहाँ प्रति व्यक्ति मासिक आय चालीस रुपये है, पैंतीस करोड़ आदमी केवल सत्ताईस पैसे रोजाना पर जी रहे हैं।

व्यक्तिगत स्वामित्व का निषेध

मार्क्स ने यह सब देखा। उसका हृदय कराह उठा। पूरे मानवीय इतिहास की उसने नयी व्याख्या की। पैसे के जन्म से लेकर आज तक की उसकी राम-कहानी उसने दुनिया के आगे बयान की और नया नारा दिया—व्यक्तिगत स्वामित्व प्रकृति की देन नहीं, मानव की अपनी सृष्टि है जिसे सम्पूर्णतः उन्मूलित किये बिना मानवता को त्राण नहीं मिलेगा। पैसा मौत है मानव के लिए अतः उसे एकदम समाप्त, एकदम नेस्तनाबूद किये बिना न्याय और समता की स्थापना नहीं हो सकती। उसने तात्कालिक उपाय बताया 'जनक्रान्ति' का, बहुसंख्यक जनता द्वारा 'रक्त-क्रान्ति' का, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक शोषकों को मिटाकर सब कुछ अपने हाथ में लेकर सम्पूर्णतः समाजीकरण करने का। उसके आधार पर रूस एवं चीन में क्रान्तियां हुई। संसार में साम्यवाद की स्थापना के लिए हुई क्रान्तियों एवं संघर्षों में अब तक दस करोड़ मानवों का संहार हो चुका है।

मार्क्स की कल्पना थी कि क्रान्ति के बाद सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सामाजिक अधिकार स्थापित हो जायेगा और हर व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुरूप ले सकेगा उस सार्वजनिक भण्डार से तथा अपनी सम्पूर्ण क्षमता और योग्यता से श्रम-समर्पित होकर उसे बढ़ाता रहेगा। उस व्यवस्था में पैसा नहीं होगा, वस्तुएँ होंगी जो आवश्यकतानुसार सबके लिए सुलभ होंगी। अधिक किसी के पास नहीं होंगी। खरीद बिक्री की प्रणाली समाप्त हो जायेगी। न सरकार रहेगी, न पुलिस, न सेना रहेगी और न न्यायालय। वह मानता था कि भूख और दैन्य से अपराध होते हैं, व्यक्तिगत स्वामित्व से अनैतिकता होती है। यहाँ वह भूल गया कि भूख न होने पर भी लिप्सा हो सकती है, कि पैसा न होने पर भी स्वामित्व हो सकता है, कि अभाव न होने पर भी अपराध हो सकता है। पूँजीवाद समाज की अर्थ-व्यवस्था मात्र नहीं, जैसा कि मार्क्स ने समझा, बल्कि वह व्यक्ति के मन की लिप्सा, वासना, अहं तथा स्वार्थ-केन्द्रित वृत्ति भी है जिसका प्रतिबिम्ब मात्र होती है व्यवस्था। और जो हर व्यवस्था में असंख्य छेद कर रास्ते बना लेती है अपने लिए, क्योंकि व्यवस्था का नियामक व्यक्ति होता है, चाहे उसका प्रारूप सामाजिक हो, राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय। यही कारण है कि मार्क्स की प्रकल्पना का समाज अभी दूर है।

संग्रह-मात्र विषमता का जनक

मार्क्स से भी पचीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर इस धरा पर आये। मानवता के इतिहास में सर्वप्रथम उन्होंने धर्म के मंच से घोषणा की—समता धर्म है, विषमता अधर्म। प्रेम धर्म है लिप्सा अधर्म। स्वामित्व-विसर्जन धर्म है, संग्रह और शोषण अधर्म। पहली बार उन्होंने कहा—धन का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। धन को धर्म की धुरा का अधिकार कैसा—धणेण किं धम्म धुरा हिगारे ? मार्क्स से भी बढ़कर उन्होंने कहा—स्वामित्व व्यक्तिगत हो या सामाजिक, राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय, वह झूठ है, प्रकृति के खिलाफ़ है, जीवन का बन्धन है। उन्होंने अपरिग्रह का सूत्र दिया। परिग्रह का अर्थ वस्तुएँ नहीं, उनपर स्वामित्व है, व्यक्तिगत सत्ता का आरोपण है, उसका आग्रह है, उसकी अनुभूति है। समाज पर उसका शोषण एवं विषमतामूलक प्रभाव है। अपरिग्रह का अर्थ है, स्वामित्व का सर्वतोभावेन सम्पूर्णतः विसर्जन—मन के उन स्तरों से भी जहाँ से वह क्रिया के माध्यम से उतरता है व्यवस्था में और बनता जाता है उसे अधिकाधिक हिंसक, अधिकाधिक शोषक।

मार्क्स व्यवस्था को बदलने तक सीमित रहा। उसका सूत्र था : व्यक्ति तो व्यवस्था की उपज है। व्यवस्था को बदलो, व्यक्ति सम्पूर्णतः बदल जायेगा। महावीर ने कहा : वास्तविकता इससे उलटी है। व्यवस्था तो व्यक्ति ने बनायी है। व्यक्ति बदलेगा तो वह स्वतः बदलेगी। अन्यथा उसे बदलते जाने से कुछ नहीं होगा। व्यक्ति उसमें से रास्ते निकालता जायेगा और वह छिन्न-भिन्न होती जायेगी। सीधी-सी बात है। अन्तःपरिवर्तन होगा तो जीवन-परिवर्तन हो जायेगा—सामाजिक, आर्थिक, सारे स्तरों पर। साँप के भीतर नयी चमड़ी आने पर पुरानी चमड़ी उतरकर गिर जायेगी; अन्यथा खींचने पर मांस-रक्त भी बहेगा और मर जायेगा वह। इतिहास साक्षी है इस कालजयी सत्य का। इतिहास साक्षी है मार्क्स की अधूरी व्यवस्था के प्रतिफल का। साक्षी होगा इतिहास कि मार्क्स का विकल्प महावीर है चाहे वह जब भी हो, जहाँ भी हो। उद्योग-व्यापार के विकास को महावीर कहीं अवरुद्ध नहीं करते लेकिन यन्त्र मानव पर हावी हो जाये और उसी का अवमूल्यन कर दे यह उन्हें काम्य नहीं। अतः सर्वप्रथम महारम्भ-महासमारम्भ के अन्तर्गत उन्होंने विशाल और पेचीदे यन्त्रों को नकारा है, देशपरिमाण-व्रत के अन्तर्गत व्यापक क्षेत्र-विस्तार को नकारा है जो अन्ततः उद्योग व्यापार एवं धन के केन्द्रीकरण का हेतु बनता है, शोषण और विषमता में साधक होता है। वन-प्रदेशोंको जलाने, कटाने, पशु-पक्षियों के आहार-जल के काम आनेवाले भू-भाग को काम में लेने, यहाँ तक कि पशुओं पर अतिभार लादने को भी महावीर ने अतिचार के रूप में निषिद्ध किया है। वेश्यावृत्ति, जुआ तथा

किराया तक को अतिचार की संज्ञा दी है। खेती को महावीर ने कहीं वर्जित नहीं किया है। उनके आनन्द-जैसे अनेक श्रावक थे जिनके सैकड़ों हल चलते थे, अनेक गोकुल पलते थे। कालान्तर में न जाने क्यों जैन-समाज ने इसे वर्जनीय मान लिया और व्याज को अहिंसक व्यवसाय की संज्ञा देकर प्रमुखतः अंगीकार कर लिया। शोषण और उत्पीड़न सर्वोपरि हिंसा है यह उनका स्पष्ट अभिमत है। वह न हो, शेष कुछ भी हो।

अपरिग्रह—विषमता का समाधान

उपलब्ध आय के लिए भी महावीर ने वृत्ति के रूप में अपरिग्रह अर्थात् स्वामित्व-शून्य भावना तथा व्यवहार के रूप में अपने उपभोग के लिए व्यवहृत राशि का सीमाधिकरण उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत, इच्छा-परिमाण-व्रत के रूप में प्रस्तावित किया है जिसे मानकर अगर महावीर के एक लाख अनुयायी भी चलें तो देश में एक व्यापक सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति आ सकती है जिसकी गत कई सहस्राब्दियों के इतिहास में मिसाल तक शायद ही मिल सके। लेकिन यहाँ हम महावीर के विपरीत ध्रुव पर खड़े हैं। धर्म के लिए महावीर धन की आवश्यकता को सीधे नकारते हैं। वे दया करने के लिए नहीं, अपितु हिंसा न करने के लिए, दान करने के लिए नहीं, अपितु शोषण न करने के लिए कहते हैं। वे धन का वितरण करने के लिए नहीं, मूलतः संग्रह न करने की ही आवाज़ उठाते हैं। धन को धर्म से एकदम असम्बद्ध मानते हैं। ग्रहण के बाद उसका धर्म के नाम पर व्यय करने की नहीं, ग्रहण ही न करने, त्याग करने, दान करने के पहले अर्जन ही न करने की प्रेरणा देते हैं। धन से न अहिंसा होती है, न सत्य निष्पन्न होता है। उसका स्वामित्व हिंसा है, उसका अर्जन परिग्रह है, उसका अन्यायपूर्वक संग्रह स्तेय है। वे दान या विसर्जन से पूर्व ही अर्जन का निरोध कर योग-क्षेम के लिए न्यूनतम उपयोग की सीमा तक बांध देते हैं। मार्क्स का साम्यवाद अपने-आप समाहित है महावीर की आर्थिक जीवन-प्रकल्पना में।

महावीर और रोटी

□

महावीर कहते हैं—भक्तपान-विच्छेद हिंसा है। भक्तपान शब्द संस्कृत का है। इसका प्राकृत रूप है 'भत्त' जिससे हिन्दी का 'भात' शब्द बना है। 'भत्त' अर्थात् भात या चावल। पान अर्थात् पानी या अन्य पेय। भत्तपान-विच्छेद का अर्थ हुआ—किसी का भात-पानी छुड़ा देना, किसी को आहार से वंचित कर देना।

महावीर बिहार में पैदा हुए। यहीं विचरे। उनका सारा जीवन यहीं बीता। साधना-काल का कुछ भाग व्रज-भूमि में बीता, जो आज का बंगाल है। बिहार और बंगाल का भोजन उन दिनों मात्र चावल था। वह भोजन का पर्याय बन गया। गेहूँ आदि उपज वहाँ तब नगण्य होती थी। अतः रोटी यहाँ भोजन का पर्याय नहीं बन सकी। 'रोटी' शब्द वैसे पुर्तगाली भाषा का है। प्राचीन काल में अपूपं या पुआ बनता था। 'चपाती' शब्द देशज है। अतः पूर्व में जो भात-पानी कहा जाता था वही पश्चिम में दाल-रोटी हो गया। आहार का पर्याय हर प्रदेश में अलग-अलग है, सदा रहा भी है। लेकिन मूल बात है आहार।

शरीर है धर्म का पहला साधन

बुद्ध के जीवन में एक घटना आती है। उनके शिष्य एक व्यक्ति को लेकर आये और उसे धर्म-तत्त्व समझाने की प्रार्थना की, क्योंकि उनके उपदेशों को वह समझ नहीं पा रहा था। बुद्ध ने कहा—पहले इसे खाने को दो। यह भूखा है। पेट भर जाने के बाद समझेगा धर्म। भूखे पेट को धर्म की बात करना उसका अपमान करना है।

धर्म का लक्ष्य है—शान्ति। महावीर कहते हैं, जितने भी अर्हत हुए हैं और होंगे, सबका प्रतिष्ठान शान्ति है जैसे सारे जीवों का प्रतिष्ठान—आधार पृथ्वी है। शान्ति जीवन के सारे स्तरों पर एक साथ होनी चाहिए। वह खण्डित नहीं हो सकती। यह नहीं कि किसी एक स्तर पर अशान्ति हो और शेष स्तरों पर शान्ति रह सके। पूरा आदमी या तो अशान्त होता है या शान्त रहता है। बीच का मार्ग नहीं है। तन अशान्त है तो मन शान्त नहीं होता, मन अशान्त है तो आत्मा शान्त नहीं रह सकती। शरीर-मन और आत्मा इतने एकाकार तथा

अनन्य एकताबद्ध हैं कि एक से शेष दो को तथा शेष दो से एक को साधारणतया अलग किया ही नहीं जा सकता। मन का क्रिया-व्यापार शरीर के माध्यम से ही होता है। यह माध्यम न रहे तो मन की सत्ता रहती ही नहीं। यह माध्यम विकृत हो तो मन विकृत होगा, यह दुर्बल हो तो मन दुर्बल होगा।

अतः शरीर को आत्मा का मन्दिर कहा गया है। इसे धर्म का साधन माना गया है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

जीवन सबका है, रोटी सबकी

महावीर कहते हैं—जिजीविषा सार्वभौम सत्ता है। जीने की इच्छा सबकी है, अतः जीवन का अधिकार भी सबका है। जीवन के लिए सबसे सर्वाधिक आवश्यक है साँस जो प्रकृति में मिलती है। उसके बाद आवश्यक है पानी जो प्रकृति की देन है, सर्वत्र मिलता है। तीसरी आवश्यकता है आहार। प्रकृति ने तो आहार भी सर्वत्र दिया है। उसका स्वामित्व न अपने पास रखा है, न किसी को दिया है। वह हवा और पानी की तरह सबका है। ज़मीन, जिस पर वह पैदा होती है सबकी है। लेकिन आदमी ने व्यवस्था के नाम पर ज़मीन पर स्वामित्व की विभाजक रेखाएँ खींच दीं। उसकी उपज को भी सम्पत्ति बनाकर उसपर व्यक्तिगत मिलकियत की मुद्रा अंकित कर दी। मानव की अपनी व्यवस्था ने रोटी को क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया और वह हवा-पानी की तरह सार्वजनीन न रह सकी। हवा-पानी की तरह रोटी जीवन का सार्वभौमिक सार्वजनिक स्रोत है। वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। वह स्वामित्व की सीमा में आबद्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध जीवन से है और जीवन के एक अनिवार्य साधन के रूप में जीवन के अधिकार से जुड़ी है। इसलिए महावीर कहते हैं कि रोटी से किसी को वंचित करने का अधिकार किसी को नहीं है। क्योंकि रोटी सबकी है जैसे जीवन सबका है। रोटी की क़ीमत नहीं होती, जैसे हवा, पानी, आग और ज़मीन की कोई क़ीमत नहीं होती। ज़मीन उसकी है जो उसे अपने श्रम-सीकर से सींचता है। रोटी उसकी है जिसे भूख है। रोटी की क़ीमत पैसा नहीं है क्योंकि वह सार्वजनीन है जिसकी क़ीमत पैसा नहीं हो सकता।

दान नहीं, स्वामित्व-विसर्जन

व्यवस्था ने प्रकृति की हर चीज़ का बँटवारा किया और उसपर स्वामित्व का आरोपण भी कर दिया। धीमे-धीमे आवश्यकता गौण बन गयी, स्वामित्व की पकड़ मजबूत होती गयी। जैसे-जैसे स्वामित्व की पकड़ मज़बूत होती गयी, समाज में एक ओर अभाव का गड्ढा बन गया, और दूसरी ओर अति-भाव

का पहाड़ खड़ा हो गया। अभाव को भरनेके लिए दान की बात कही गयी। महावीर कहते हैं—दान नहीं, विसर्जन। दान में मालिक होने का भाव रहता है। देनेवाले का अहं तथा लेनेवाले की हीनता निष्पन्न होती है जबकि महावीर दोनों को अध्यात्म का विलोम मानते हैं। दान तब होता है जब आवश्यकता से अधिक संग्रह हो। महावीर संग्रह का ही निषेध करते हैं। दान में स्वामित्व का पोषण होता है। महावीर स्वामित्व को ही अमान्य करते हैं। विसर्जन में स्वामित्व का लोप होता है। सबका जो है वह सबको पहुँचे, यह जीवन का अनिवार्य धर्म है। न पहुँचना उस धर्म का खण्डन है।

मार्क्स से भी २५०० वर्ष पूर्व महावीर स्वामित्व पर सीधी चोट करते हैं, अपने धर्म की नींव उसके नकार पर रखते हैं और स्वामित्व के प्रतिपक्ष में विसर्जन का सूत्र देते हैं जिसकी अवमानता का अर्थ है—महावीर का ही सम्पूर्णतः नकार। लेकिन आज महावीर के नाम पर धर्म का जो आचारपक्ष लोक-जीवन में उभर रहा है वह स्वामित्व का पोषक है, विसर्जन का नहीं; संग्रह का उन्नायक है, साम्य का परिचायक नहीं। अतः अपरिग्रह के प्रचेता के नाम पर परिग्रह के प्रासाद खड़े होते हैं, दान का दम्भ होता है, दया का अभिनय होता है, अहिंसा का दिखावा होता है। महावीर के लिए आदमी मन्दिर है, आदमी देवता है और आदमी ही पूजक है। होड़ लगी है पत्थरों के पिरामिड खड़े करने की। महावीर कहते हैं—किसी को रोटी से वंचित करना महान् हिंसा है, अतः योग-क्षेम से अधिक एक चावल का दाना भी नहीं रखना है। हम संग्रह की सीमाएँ तोड़ देते हैं और पीड़ितों को चुटकी-भर आटा डालकर धर्म सिद्ध कर लेते हैं। महावीर कहते हैं—दान तब होगा जब संग्रह हो, अतः त्याग करो उसका जो तुम्हारे अनिवार्य योगक्षेम की सीमा के बाहर हो। महावीर कहते हैं, धन साधन है जीवन के बुनियादी स्रोतों के उपार्जन का; लेकिन हमारा जीवन ही साधन बना हुआ है धन के उपार्जन और संग्रह का।

संग्रह : आत्म-प्रवंचना

कितने युगों तक छलते रहे हैं हम महावीर को और बुद्ध को? कब तक छलते रहेंगे? युग करवट ले रहा है। लोक-चेतना जाग रही है। विद्रोह की हुंकार असंख्य हृदयों में सुलग उठी है। शोषक और शोषित वर्गबद्ध हो गये हैं। वर्ग-घृणा और वर्ग-संघर्ष का सूत्रपात हो चुका है। रोटी ने संसार को दो टुकड़ों में बाँट दिया है। एक टुकड़ा रोटी को सर्वोच्च मूल्य मानकर जीवन के सारे परम सत्यों को नकार रहा है और दूसरा उनकी दुहाई देकर नकार रहा है रोटी के सार्वजनीन अधिकार को। महावीर खड़े हैं इन दोनों के बीच। वे कहते

हैं—रोटी जीवन के लिए है। वह साध्य नहीं, साधन है जीवन का। जीवन रोटी के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए है। लेकिन रोटी जीवन का अधिकार है, उसे नकारना जीवन को नकारना है। अतः जीवन के सत्यों की दुहाई देकर उसके स्रोत को नकारने का प्रयास प्रवंचना है। अगर समय रहते स्वामित्व-विसर्जन नहीं हुआ तो बलात् छीन लिया जायेगा सर्वस्व। महावीर स्पष्ट कहते हैं—"अच्छा हो कि संयम द्वारा हम अपने को दान्त—नियन्त्रित करें अन्यथा दूसरे हमें बन्धन-बलात् नियन्त्रण तथा वध, रक्तपात और संहार द्वारा नियन्त्रित कर देंगे।" आज देश में और देश के बाहर जो वर्ग-संघर्ष एवं अशान्ति है उसका मूल स्रोत भात-पान-विच्छेद है; अर्थात् रोटी से वंचित करना, धन-सम्पत्ति से तौलना रोटी को। जो मानव का जीवनाधिकार है, स्वामित्व से बांधना रोटी को, जो हवा-पानी की तरह प्रकृति की प्राणीमात्र के लिए निर्मूल्य देन है। स्वामित्व, अर्थ, मूल्य, खरीद-बिक्री, उत्तराधिकार ये सब मानव-निर्मित व्यवस्थाएँ हैं जिनके मूल में ही मानवीय साम्य का नकार तथा वैषम्य और वैशिष्ट्य का स्वीकार है। महावीर नहीं मानते यह सब, क्योंकि प्रकृति में अन्तर्निहित नहीं है उसका स्रोत, ऊपर से आरोपित है सत्ता द्वारा। सत्ता सीमाएँ बनाती है, सेवा तोड़ती है। अहंकार स्वामित्व के प्रासाद खड़े करता है, प्रेम तोड़ता है। महावीर प्रेम के मसीहा हैं, जीवन के प्रचेता हैं, समता के साकार रूप हैं, अतः उनका जीवन स्वयं शाश्वत विद्रोह का स्वर है इन सबके लिए।

●

समाजवाद और महावीर

□

समाजवादी समाज की रचना का लक्ष्य देश की नज़रों के आगे आज़ादी के पहले से रहा है। कांग्रेस-दल ने आज़ादी की लड़ाई के वक़्त भी इस बात की घोषणा अपने वार्षिक सम्मेलनों में की थी और स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू समाजवाद के एक प्रसिद्ध पक्षधर और व्याख्याता भी माने जाते रहे हैं। गत कुछ वर्षों से ग़रीबी और अशिक्षा के निवारण, आर्थिक स्रोतों के राष्ट्रीयकरण और सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण के प्रयासों द्वारा देश में समाजवाद की स्थापना के लिए विशेष प्रयत्न किया जा रहा है।

वास्तव में देखा जाये तो कोई भी दर्शन या विचार नया अथवा पुराना नहीं होता। हज़ारों वर्ष पूर्व प्लेटो की 'रिपब्लिक' में समाजवादी समाज एवं राष्ट्र-रचना की रूपरेखा मिलती है। उससे भी पूर्ण भगवान् महावीर ने हमारे सामने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का एक आदर्श रखा था।

दो पक्ष—पूँजी और श्रम

अर्थ-व्यवस्था के दो पक्ष होते हैं—पूँजी और श्रम। इनमें भी सर्वोच्च स्थान श्रम का है। महावीर ने श्रम को जितनी बड़ी प्रतिष्ठा दी है, उतनी शायद ही मार्क्स दे पाया हो। उन्होंने कहा है—जो श्रम करता है, वही श्रमण है, अर्थात् सन्त है। 'श्रम ही साधना है'—यह बात विचारक-संसार में टालस्टाय कह पाया था, जिसे रूस की जनता साम्यवाद का एक प्रचेता मानती है। उससे भी पूर्व महावीर ने श्रम को इतनी बड़ी प्रतिष्ठा दी थी।

श्रम का जो उद्योगमय रूप है, उसके बारे में महावीर का विचार वही है, जो रस्किन, टालस्टाय और गान्धीजी का रहा है। महावीर ने श्रावक के लिए कल-कारखानों का वर्जन किया है, क्योंकि वे हिंसा के केन्द्र हैं—उनसे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होता है, बेकारी बढ़ती है। इसलिए इन्हें महा-आरम्भ—महा-परिग्रह कहकर महावीर अपनी साधना-पद्धति में इनका निषेध करते हैं। गान्धी और रस्किन का विचार भी लगभग यही है। इनके स्थान पर महावीर ने छोटे-छोटे उद्योगों को अपने दर्शन में स्थान दिया—जिससे अल्प-आरम्भ अल्प-परिग्रह, धन का विकेन्द्रीकरण, आर्थिक विषमता तथा क्षेत्रीय स्वावलम्बन स्वयं निष्पन्न

होते हैं। महावीर का दिशा-परिमाण-व्रत इस दिशा में स्पष्ट निर्देश है।

छोटे उद्योगों में भी शोषण न हो, इसके लिए महावीर ने सजगता बरतने का निर्देश किया है। सम्भवतः महावीर ही एक व्यक्ति थे जिन्होंने पशु पर अधिक भार नहीं लादने तक का भी निर्देश श्रावकीय आचार संहिता में दिया। मानवीय शोषण को तो उन्होंने प्रायश्चित्त योग्य बड़ी हिंसा कहा ही है।

दृष्टि सत्य-ग्राही हो

गान्धीजी का सर्वोदय तथा बिनोवा के भूदान एवं ग्राम-स्वराज्य की धारणा के पीछे जो सत्य है, वह उद्योग-व्यापार के अतिचारों के वर्जन तथा परिमाण-व्रत के भीतर निहित है। इस प्रकार के विकेन्द्रित एवं लघु उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर विकास का उदाहरण जापान है, जिसके लिए अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हर्मन कीन का कहना है कि इस शताब्दी के अन्त तक वह संसार का सबसे धनी और शक्तिशाली राष्ट्र होगा। भारत-जैसे देश के लिए, जहां जन-शक्ति प्रचुर है, भारी यान्त्रिक उद्योगों का विकास बेकारी, विषमता एवं शोषण का हेतु होगा—यह स्वतन्त्रता के पूर्व ही गान्धीजी कह चुके थे तथा उन्होंने खादी एवं ग्रामोद्योग द्वारा क्षेत्रीय स्वावलम्बन की जो योजना दी थी, वह इसके विकल्प का एक दिशा-संकेत मात्र थी, जिसे या तो सीधे अस्वीकार कर दिया गया अथवा ज्यों का त्यों शब्दात्मक रूप से स्वीकार कर लिया गया। हमारी दृष्टि शब्दों की शवपूजा से आगे बढ़कर अर्थग्राही होती तो ऐसा नहीं होता। महावीर के शब्दों की शवपूजा करने से भी वही होगा। अतः महावीर ने जो कहा, उसकी मूल भावना को समझकर हमारे जीवन में उसकी व्याख्या और क्रियान्विति अपेक्षित है। अन्यथा हम वैसे ही गतानुगतिक रहेंगे, जैसे कि गत पचीस सौ वर्षों में महावीर के चिन्तन की अक्षय निधि पाकर भी रहे हैं।

कैसा होगा समाज़वाद का स्वरूप ?

समाजवाद का जो रूप भारत में स्थापित होकर यहाँ के लोकजीवन के लिए वरदान बन सकता है, वह ग्राम-राज्यमूलक, लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा क्षेत्रीय स्वावलम्बन पर आधारित, गान्धी और महावीर का अहिंसा, प्रेम एवं करुणामय भारतीय समाजवाद होगा, प्रिंस क्रोपोट्किन का अराजकतावादी अथवा मार्क्स का वर्ग-संघर्षवादी समाजवाद नहीं, क्योंकि वे अपूर्ण एवं अधूरे तो हैं ही, इस देश की परिस्थितियाँ एवं परिवेश के विपरीत भी हैं।

गान्धीजी ने ट्रस्टीशिप का आदर्श रखा, जो भारतीय समाजवाद का आधार है। महावीर ने इसी का स्वामित्व-विसर्जन के शब्दों में विधान किया।

वह ट्रस्टीशिप से भी अधिक गहरा जाता है। स्वामित्व-विसर्जन का सीधा अर्थ है—वस्तु से अपना स्वामित्व हटा लेना। जीवन के साधन प्रकृति के द्वारा प्रदत्त हैं और हम सब प्रकृति के पुत्र हैं, अतः भाई हैं। जीवन के साधनों में सब समान हिस्सा रखते हैं और कोई उनका एकमात्र स्वामी नहीं है। हर व्यक्ति मात्र संरक्षक है, जो अपनी अपेक्षा के अनुसार योग-क्षेम के साधन ले, शेष औरों के लिए छोड़ दे, जिनको आवश्यकता है। महावीर कहते हैं—अपनी आवश्यकता के लिए लेने से पूर्व यह देख लो कि क्या इससे कम में भी मेरा काम चल सकता है? क्या इससे दूसरे की आजीविका का विच्छेद तो नहीं हो जायेगा? इन परिस्थितियों में वह अपनी आवश्यकताओं को और कम करके शेष सम्पत्ति से अपने स्वामित्व को हटा ले। स्वामित्व-विसर्जन तभी हो सकता है, जब अपनी आवश्यकताएँ सीमित हों।

अतः महावीर शोषणमुक्त व्यवसाय से प्राप्त आय को भी व्यक्ति की अपनी नहीं मानते। विसर्जन स्वामित्व का अस्वीकार है और स्वामित्व अहं का विस्तार। स्वामित्व टूटने पर आवश्यकता-पूर्ति बचती है, जिसे उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत द्वारा महावीर अधिकाधिक सीमित करते जाने का निर्देश देते हैं। श्रावक की तीन मनोकामनाओं में सर्वप्रथम यह है कि मैं अल्पतम आरम्भ और अल्पतम परिग्रह पर कब पहुँच सकूँगा? पूर्ण अपरिग्रह यानी स्वामित्व का सम्पूर्ण विसर्जन महावीर का मूल आदर्श है, जहां विषमता एवं शोषण का बीज ही समाप्त हो जाता है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत एक प्रकार से आय का स्वैच्छिक परिसीमन है, जो व्यक्ति और समाज को स्वतः समाजवाद की ओर ले जाता है। यह दुर्भाग्य का विषय रहा है कि महावीर को गत २५०० वर्षों में हमारे देश ने समझने और अनुसरण करने का प्रयास किया ही नहीं। अन्यथा देश में एक महान् रक्तहीन आर्थिक क्रान्ति होती और हमारे सामाजिक-आर्थिक तन्त्र का समाजवादी आधारों पर नव-निर्माण कभी का हो जाता।

●

जातिवाद और महावीर

□

जाति का अर्थ है एक-जैसे प्राणी। इस दृष्टि से पशु-पक्षियों में असंख्य जातियां हैं। एक जाति का प्राणी जन्मना अपनी जाति के गुणों को धारण करता है। इस दृष्टि से मानव एक जाति है। मानव की सन्तान मानवीय आकार-प्रकार को अनिवार्यतः धारण करती है।

जाति का अर्थ है कर्म की समानता

मानव-समाज में 'जाति' शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी किया जाता रहा है—व्यवसाय या कर्म की समानता। इस दृष्टि से असंख्य जातियां हैं क्योंकि समाज की असंख्य प्रवृत्तियां है। हरेक प्रवृत्ति में अगणित व्यक्ति लगे रहते हैं। ये प्रवृत्तियां मानव की योग्यता और रुचि के सापेक्ष परिवर्तनशील हैं। उसका जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं। एक श्रमजीवी का पुत्र बुद्धिजीवी हो सकता है, एक व्यापारी का पुत्र लेखक हो सकता है, एक लुहार का पुत्र दरजी हो सकता है। भारतीय समाज में चार प्रकार से प्रवृत्तियों का विभाजन किया गया है :

ज्ञान-विज्ञान, आरक्षण, व्यवसाय, सेवा।

इनके आधार पर चार वर्णों की रचना हुई, जिसके साक्ष्य जैन परम्परा में भी मिलते हैं, वैदिक परम्परा में भी। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ ने असि, मसि और कृषि विद्याएँ प्रारम्भ कीं जिनके आधार पर वर्ग बने :

असि, अर्थात् तलवार, जिसकी प्रवृत्ति है आरक्षण।

मसि; अर्थात् स्याही, जिसकी प्रवृत्ति है लेखन, स्वाध्याय, ज्ञान-विज्ञान का विकास।

कृषि; अर्थात् खेती, जिसकी प्रवृत्ति है उत्पादक कर्म—'प्रोडक्टिव वर्क्स'।

इन तीनों में सहायक है श्रमिक जिसकी अपनी कोई प्रवृत्ति नहीं, लेकिन उसकी शक्ति इन सब प्रवृत्तियों की प्राण है। अतः अवशिष्ट समाज का भी एक वर्ग बन गया।

> एक्का मणुस्स जाई, रज्जुप्पतीइ दो कया उसभे।
> तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि।

—मनुष्य की जाति है वह है मानव। राज्य की उत्पत्ति होने पर दो वर्ग बने—राज्य एवं रक्षण करनेवाले क्षत्रिय और शेष श्रमजीवी शूद्र। अग्नि की उत्पत्ति हुई। व्यवसाय-क्षेत्र खुला तो एक नया वर्ग वैश्य बना। स्वाध्यायशील लोग ब्राह्मण बन गये।

एक भयंकर भूल

एक भयंकर भूल जो भारतीय समाज में हुई वह यह थी कि जन्मना जाति का मूल अर्थ छोड़कर उसे कर्मणा जाति पर आरोपित कर दिया गया। इसके अनेक हानिकारक परिणाम हुए :

- जन्म कर्म का निर्णायक हो गया, योग्यता और रुचि नहीं।
- श्रम को सबसे हीन स्थान मिला और उसकी प्रतिष्ठा का अवमूल्यन हुआ।
- हीनता और उच्चता के स्तर-भेद बने। जिससे मानव-मानव में गहरे भेद-भाव की खाइयां बनीं। अस्पृश्यता-जैसी अमानवीय प्रवृत्ति निष्पन्न हुई।
- खान-पान, विवाह आदि जातियों तथा वर्गों में बँध जाने से समाज एवं संस्कृति, आचार एवं विचार की एकरूपता ही खण्डित हो गयी।

यह सारा अबौद्धिक क्रम था क्योंकि व्यवसाय का सम्बन्ध रुचि और योग्यता से है। वह परिवर्तनीय है—जन्म के आधार पर अपरिवर्तनीय मानने का कोई तर्कसंगत आधार ही नहीं है। दूसरे, व्यवसाय-भेद के कारण जन्मना जाति भी आधारहीन है। क्योंकि जन्मना तो मानव को प्रकृति ने एक ही जाति का बनाया है। इसके प्रकृतिगत प्रमाण स्पष्ट हैं।

- एक जाति का प्राणी दूसरी जाति के प्राणी के प्रति आकर्षण अनुभव नहीं करता जैसे सिंह का मादा भेड़िया के प्रति। किन्तु हर देश का पुरुष हर देश की नारी के प्रति आकर्षण अनुभव करता है।
- एक जाति के पशु का दूसरी जाति के पशु से सम्भोग या कृत्रिम गर्भाधान होने पर सन्तानोत्पत्ति नहीं होती। लेकिन पृथ्वी के किसी भी देश के पुरुष द्वारा किसी भी अन्य देश की नारी के गर्भाधान होता है, सन्तानो-त्पत्ति होती है।
- मानव के पित्र्य-सूत्रों 'क्रोमोजोन्स' की संरचना में मौलिक समानता है जो विभिन्न पशु-प्रजातियों में नहीं है।
- मानव का रक्त ए., बी., ए. बी. और सी. चार प्रकार का होने पर भी

मूलतः रासायनिक संरचना में समान है और मानव के शरीर का पोषक है जबकि पशु का रक्त मानव-शरीर के लिए विष है।

- मानव-रक्त मानव के लिए मूलतः सजातीय है, पशु का रक्त मानव एवं भिन्न जाति के पशु के लिए भी विजातीय।

अतः महावीर का स्पष्ट अभिमत है कि :

- जन्मना मानव जाति एक है।
- कर्मणा जाति अनेक हैं।
- जन्म का कर्म से और कर्म का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं।
- जन्मना जाति अपरिवर्तनीय है। मानव का पुत्र पशु या पक्षी नहीं बन सकता।
- कर्मणा जाति परिवर्तनीय है। लुहार का पुत्र चर्मकार बन सकता है।
- शरीर-रचना, रक्त आदि के आधार पर मानव एक ही जाति है, अतः उच्च या हीन, श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ-जैसा कुछ नहीं हो सकता। स्पृश्य अस्पृश्य-जैसा भी कुछ नहीं है।।
- कर्म समाज की प्रवृत्ति है और समान महत्त्व का है। शरीर माध्यम हो या मन, विचार माध्यम हो या दैहिक श्रम, उसमें श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ-जैसा कुछ नहीं है।

जाति से एक, कर्म से अनेक

अतः महावीर जाति को जन्मना एक मानव जाति के रूप में और कर्मणा अनेक जातियों के रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन जातिवाद को, जाति के आधार पर हीन या उच्च, श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ, पूजनीय या पूजक, स्पृश्य या अस्पृश्य नहीं मानते। उनकी स्पष्ट घोषणा है :

कम्मुण बंभणो होई
खत्तिओ होई कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होई
सुद्दो होई कम्मुणा।

—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र अपने-अपने कर्म से होते हैं।

बंभचरेण बंभणो—

—ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण होता है।

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो
न दीसइ जाइ विसेस कोई

सोवागपुत्ते हरिएस साहू
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभासा ।

—तपस्या ही प्रधान है। जाति का कोई महत्त्व नहीं है। जिसकी योग-विभूति और सामर्थ्य आश्चर्यजनक है वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

महावीर ने जातिवाद के नाम पर होनेवाले सामाजिक अत्याचारों पर कठोर चोट की और मानवीय एकत्व तथा समत्व का आदर्श सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठापित किया। आज जब भारत जातिवाद तथा अस्पृश्यता की गुंजलिका में तड़प रहा है तथा विश्व के देशों में रंग एवं प्रजाति के आधार पर भेदभाव और संघर्ष है, महावीर का मानवीय एकता का सन्देश मानव-जाति के लिए प्रस्तुत करता है शान्ति एवं समत्व का पावन पथ।

विश्व-ज्योति भगवान् महावीर

□

अनादिकाल से असंख्य आत्माएँ जड़ की कारा से मुक्ति के लिए सतत संघर्ष-रत हैं, विभाव के आवरणों को तोड़कर अपनी स्वभाव सत्ता का प्रकाशन करती आ रही हैं। इनमें से कुछ आत्माएँ उस बिन्दु तक पहुँच जाती हैं जो बन्धन-मुक्ति की सन्धि है और उसे तोड़कर अपनी शुद्ध-बुद्ध सत्ता में स्थित होकर दूसरों का मार्ग दर्शन करती हैं। संसार के हर देश में, हर काल में ऐसी परम आत्माएँ हुई हैं जिन्हें तीर्थंकर या पैग़म्बर, अर्हत् या बुद्ध विविध नामों से मण्डित किया जाता रहा है। ऐसी ही एक परम आत्मा विश्व जीवन के इतिहास में महावीर के नाम से प्रख्यात है जिसे जैन परम्परा अपना चौबीसवाँ तीर्थंकर मानती है।

इतिहास साक्षी है कि ऐसी आत्माओं का प्रादुर्भाव सदा ऐसे युगों में हुआ है जो मानव-चेतना की तिमिराच्छन्न काल-निशा रहे हैं। महावीर का युग भी एक ऐसा ही युग था जिसमें धर्म के नाम पर स्वयं नरक के सौदे होने लगे थे, खर्चीले एवं हिंसक कर्म-काण्ड सर्वत्र हो रहे थे, जाति एवं वर्णभेद ने अत्याचार एवं शोषण की एक असहनीय स्थिति पैदा कर दी थी, मानवीय स्वतन्त्रता और समानता के स्थान पर एकतन्त्रात्मक राजसत्ता ने दासता एवं उत्पीड़न, वैषम्य एवं विवशता के महारौरव का सृजन कर डाला था जिससे आहत होकर युग-चेतना कराह उठी थी।

जन्म, निर्वाण और उपदेश

उत्तरी विहार में वैशाली नामक लिच्छवि जाति के क्षत्रियों का गणतन्त्र था, जिसके अन्तर्गत क्षत्रिय-कुण्डग्राम के अधिशास्ता सिद्धार्थ एवं क्षत्रियाणी त्रिशला के घर भगवान् महावीर ने जन्म लिया। माता-पिता ने उनका नाम वर्द्धमान रखा। तीस वर्ष की आयु में भगवान् सत्य की खोज में निकल पड़े। बारह वर्ष का उनका दीर्घ तपस्या-काल वीरत्व की अमर गाथा है जिसकी एक-एक घटना रोंगटे खड़े कर देनेवाली है। चण्डकौशिक नामक सर्प ने उन्हें डँसा, संगम नामक देव ने उन्हें एक रात्रि में बीस मारणान्तिक परीषह दिये, एक गोपालक ने उनके कानों में लोहशलाका आर-पार ठोंक दी, वज्रभूमि के आदिवासी कोल-किरातों ने उन्हें असह्य यन्त्रणाएँ दीं, राजपुरुषों ने सन्देहवश

मारा-पीटा और फांसी पर चढ़ा दिया, पशु-पक्षियों ने उन्हें ध्यानावस्था में पीड़ित किया, किन्तु प्रभु हिमालय की भाँति निष्कम्प सतत-साधना निमग्न रहे। अन्ततः ऋजु वालिका नदी के तट पर उन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हुई जिसे परम्परा कैवल्य कहती है। कैवल्य के बाद तीस वर्षों तक प्रभु ने देश-भर के विविध प्रदेशों में भ्रमण कर अगणित प्राणियों को धर्म-देशना दी। अन्त में पावापुरी में बहत्तर वर्ष की आयु में वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। यह वर्ष भगवान् का २५००वां निर्वाण वर्ष है जो प्रतीक है उनकी महाकरुणा का, मानवीय एकता की उद्भावना का, जाति-वर्णभेद मुक्त स्वस्थ समाज की संरचना के उनके पावन आदर्श का, अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त की त्रिवेणी का और बन्धन-मुक्ति के उस मार्ग का जो उन्होंने अपनी महान् साधना से ज्ञात कर मानव-जाति को दिखाया। स्व-पर-कल्याण की साकार प्रतिमा भगवान् महावीर का जीवन त्याग और तप, संयम एवं साधना की एक प्रेरणास्पद गाथा है। सुकरात ने कहा—दर्शन मृत्यु की खोज है। महावीर हो या बुद्ध, कृष्ण हो या क्राइस्ट, जरथुस्त्र हो या लाओत्जे, खोज सबकी एक ही रही है—उसकी जो अमर है, शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है, अनन्य है, परम है। ऐन्द्रिय प्रतीति के पार जो अतीन्द्रिय सत्य है, गुणों के आवर्त के पार जो गुणातीत सत्ता है, सारे नाम-रूपों के पार जो अनाम-अरूप है, उसकी खोज में सब निकले हैं और वहीं पहुँचकर सबकी चेतना को विश्रान्ति मिली है। महावीर ने कहा है—लोक में जो अनन्य एवं परम को जान लेता है वही विविक्त होता है, उपशान्त होता है, समित, सहित और सचेतन होता है। उसी की निष्पत्ति मानसिक जीवन के स्तरों पर वीतरागता में होती है जो अनित्य एवं नश्वर, गुणात्मक संवेदना में राग-द्वेषमयी चेतना की मूर्च्छा का टूटना है। वह जो अनेक में एक को जानता है वह उस एक में अनेक को देख लेता है। जो भीतर और बाहर की एकता की परिज्ञा कर लेता है वह द्वन्द्वातीत हो जाता है, शाश्वत शान्ति में स्थित हो जाता है। वही तो निर्वाण है। वह सबमें अपने को तथा अपने में सबको एक परम अनन्य आत्मसत्ता के रूप में साक्षात्कार कर सबका मित्र हो जाता है, दूसरों का अतिक्रमण करनेवाली अहंमूलक स्वार्थवृत्ति से विरत हो जाता है। यही सार है विश्व के सारे धर्मों का। यही महावीर के शब्दों में धर्म है। उन्होंने कहा—और सभी अर्हतों और बुद्धों का, जो अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, यही कहना है, यही उनकी प्ररूपणा है, प्रज्ञापना है कि सारे प्राणियों, भूतों, जीवों का अतिक्रमण न करना, उनपर सत्ता स्थापित न करना, उनपर शक्ति का प्रयोग न करना, उन्हें पीड़ित और उद्विग्न न करना—यही धर्म है, नित्य है, शाश्वत है।

अहिंसा और अपरिग्रह

महावीर की अहिंसा मात्र मरण का नकार नहीं है, वह जीवन के साथ उसकी मूल सार्वभौम सत्ता के स्तर पर सम्पूर्ण तादात्म्य है। अतः वह जीवन के प्रतिपक्ष में कहीं भी खड़ी नहीं हो सकती। अगर जीवन सबका है, सबको जीवन जीने का अबाध अधिकार है तो अपने जीवन के लिए दूसरों को जीवन-साधनों से वंचित करना जीवनाधिकार का उल्लंघन है। जीवन-साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व दूसरों को उनसे वंचित करने का कारण है, अतः भगवान् ने अहिंसा के साथ अपरिग्रह को अनिवार्य माना है, जो अहिंसा का ही भौतिक जीवन-साधनों के क्षेत्र में विस्तार है। मार्क्स से पचीस वर्ष पूर्व महावीर ने प्रजातीय विभेद, ग़रीब-अमीर की सीमा-रेखाओं से मुक्त, स्वामित्व-मुक्त अर्थ-व्यवस्था तथा वर्गहीन समाजतन्त्र की अवधारणा अहिंसा के अन्तर्गत प्रस्तुत की थी जो समाज-शास्त्रियों एवं मनस्तत्त्व-वेत्ताओं के लिए मननीय है।

अनेकान्त

महावीर की अहिंसा का जीवन के भौतिक साधनों के क्षेत्र में विस्तार अपरिग्रह है और विचार के जगत् में इसी का विस्तार अनेकान्त है। हम किसी का अतिक्रमण- विचार के जगत् में भी उसे ग़लत घोषित करके न करें, बल्कि अपने को उसकी स्थिति में रखकर उसकी आँखों से उसके सत्य को देखें तो पायेंगे कि सन्दर्भों की सापेक्षता के साँचे में उसके सत्य का अपना स्थान है। सत्य अपनी निरपेक्ष सत्ता में एक है, लेकिन सापेक्ष स्तरों पर उसका साक्षात्कार अनन्तमुखी है और ये अनन्त साक्षात्कार उस मूल परम सत्य की ही अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य हैं। हमें सत्य को सर्वत्र ग्रहण करना चाहिए। जो सत्यग्राही होगा वही सत्याग्रही होने का अधिकारी है अन्यथा वह विचारों के जगत् में अपने अहं की वेदी पर दूसरों की सत्ता का हन्ता होगा, हिंसक होगा।

महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्तों की मूल्यवत्ता आज के लोकजीवन में और भी अधिक है जबकि विषमता, भ्रष्टाचार, शोषण, संघर्ष, साम्प्रदायिक उन्माद से मानवता पीड़ित है। महावीर का पावन सन्देश शान्ति एवं सौजन्य, मैत्री एवं करुणा, सहयोग एवं उदारतापूर्ण जीवन जीने की एक पवित्र प्रेरणा है जिसका अनुसरण ही मानवता को भावी संघर्ष और विनाश की विभीषिका से बचा सकता है।

गणतन्त्र और महावीर

☐

राजनीति-विशारदों का मत है कि सबसे श्रेष्ठ शासन-पद्धति वह है जो जनता द्वारा अपने लिए स्वयं निर्मित हो, नियन्त्रित हो, जनता के लिए हो तथा जनता की ही हो। इसे जनतन्त्र कहते हैं। भारत गणराज्य जनतन्त्रात्मक है। विश्व के अधिकांश देशों की शासन-पद्धति जनतन्त्र है। बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी उपलब्धि ही है—मानवीय स्वाधीनता पर आधारित जनतन्त्र-मूलक शासन-पद्धति।

जनतन्त्र के तीन सूत्र हैं—स्वतन्त्रता, समानता और सहअस्तित्व। इन तीनों का अविनाभावी सम्बन्ध है—एक के बिना शेष दो का अस्तित्व रह नहीं सकता।

भगवान् महावीर २५०० वर्ष पूर्व एक गणतन्त्र में ही जनमे। वैशाली उस समय लिच्छवि जाति के क्षत्रियों का एक गौरवशाली जनतन्त्र था, जिसने सम्राट् बिम्बिसार और अजातशत्रु-जैसे महान् साम्राज्य के एक तन्त्राधिकारी शासकों से अनेक बार टक्कर ली थी। भगवान् बुद्ध ने एक बार सम्राट् बिम्बिसार के अमात्य वर्षकार से कहा था—जब तक लिच्छवियों में जनतन्त्र-व्यवस्था सुचारु चलती रहेगी, वे पराजित नहीं होंगे। कहा जाता है कि वर्षकार ने उनमें फूट डालकर जनतन्त्र को दूषित कर दिया। फलतः सम्राट् बिम्बिसार के हाथों वे पराजित हुए।

लिच्छवि गण में सीधा जनतन्त्र या 'डाइरेक्ट डेमोक्रेसी' थी। मतदान के लिए काले और लाल रंग की शलाकाओं का प्रयोग होता था। बहुमत का निर्णय स्वीकार होता। उसे फिर सर्वसम्मति से क्रियान्वित किया जाता।

इस वातावरण में पले भगवान् महावीर के अन्तःकरण पर जनतान्त्रिक व्यवस्था और विचार का गहरा प्रभाव था। सर्वप्रथम उन्होंने ईश्वर का भी जनतन्त्रीकरण किया। उसकी एकाधिकारमय सार्वभौम सत्ता को समाप्त किया। महावीर की अवधारणा का ईश्वर सृष्टि का कर्ता-धर्ता और नियामक नहीं। मात्र वह आत्मा है जो कर्मरज मुक्त हो चुकी है, सिद्ध हो चुकी है। ये सिद्ध अनन्त हैं। हर आत्मा साधना द्वारा मुक्त होकर ईश्वर की यह स्थिति प्राप्त कर सकती है। सिद्धत्व का द्वार सबके लिए खुला है। जाति, वर्ण, रंग, लिंग, धन,

सत्ता आदि की दृष्टि से कोई भेद नहीं। यह गणतन्त्रमूलक विचार की एक क्रान्तिकारी दार्शनिक उपलब्धि थी।

स्वतन्त्रता

जनतन्त्र का प्रथम सूत्र है स्वतन्त्रता। महावीर धर्म का शाश्वत और ध्रुव तत्त्व इसी को मानते हैं कि किसी प्राणी का हनन, शोषण, पीड़न और दासत्व न हो। णो हीणे णो अइरित्ते—कोई हीन नहीं है, कोई अतिरिक्त नहीं है। अतः महावीर की मान्यता है कि हर आत्मा मूलतः परमात्मा ही है—कर्मरजों के आवरण क्षय कर वह अपने मूल लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। उस पर ईश्वर की कोई नियामक सत्ता नहीं है। उसका कोई भला-बुरा करनेवाला नहीं। वही कर्ता, विकर्ता है अपने सुख और दुःख का। वही अपना मित्र है, वही अपना शत्रु।

स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं, तन्त्रहीनता नहीं। तन्त्र का अर्थ है व्यवस्था। जीवन स्वयं एक व्यवस्था है। अव्यवस्था तो मृत्यु है। अतः स्वतन्त्र का अर्थ है जो तन्त्र दूसरे द्वारा आरोपित नहीं, अपने द्वारा निर्मित एवं स्वीकृत हो। स्वतन्त्र—अर्थात् अपना तन्त्र। अतः स्वतन्त्र का अर्थ है—आत्म-संयम। संयम का अभाव स्वतन्त्रता नहीं, तन्त्रहीनता है, स्वच्छन्दता है जिसका प्रजातन्त्र में कोई स्थान नहीं, क्योंकि स्वच्छन्दता दूसरों के हितों का अतिक्रमण कर चलती है। उससे शोषण तथा विषमता की प्रतिष्ठा होती है जो प्रजातन्त्र का विलोम है। संयम ही स्वतन्त्रता है—यह महावीर का सूत्र वर्तमान भारतीय प्रजातन्त्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण दिशा-दर्शक तत्त्व है जिसके अभाव में पूरा देश विशृंखलता से पीड़ित है। संयम नैतिक स्वतन्त्रता है जिसके अभाव में राजनीतिक एवं सामाजिक-आर्थिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में यह एक स्वयं प्रमाणित तथ्य है।

समानता

गणतन्त्र का दूसरा सूत्र है समानता। महावीर ने समता को धर्म कहा है। यह समता सुख-दुःख के प्रति समभाव है तथा प्राणिमात्र के प्रति समत्व-दृष्टि है। यह समता मानवीय अधिकारों, सामाजिक स्थिति एवं आर्थिक स्थिति की विषमता को भी स्वयं समाप्त कर देती है। महावीर के अपरिग्रह एवं विसर्जन आदि सिद्धान्तों में इसके बीज प्रकट रूप में मिलते हैं। महावीर जाति में नहीं, कर्म में विश्वास करते हैं। जाति के आधार पर सामाजिक स्तर-वैभिन्न्य को वे अमान्य करते हैं। नारी को महावीर ने नर के समान अधिकार दिये। प्राणी से प्रभु तक आत्मविकास की समस्त स्थितियों में उसकी गति, उसकी क्षमता और उसका अधिकार स्वीकार किया है। उनके गण में चन्दनबाला को, जो राज-

कन्या से दासी बना दी गयी थी, समस्त साध्वियों के ऊपर सती प्रमुखा का स्थान मिला। चाण्डाल हरिकेशबल और अर्जुन माली को महामुनियों का पद मिला। महावीर ने धन और सत्ता को मानव पर प्रतिष्ठा नहीं दी जो आज के प्रजातान्त्रिक देशों में भी सर्वत्र प्राप्त है और जिनके द्वारा प्रजातन्त्र की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। उन्होंने कहा—वणेण कि धम्म धुराहिगारे—धन को धर्म का धुराधिकार कैसे मिल सकता है? धर्म के साथ धन का सम्बन्ध ही क्या है? धन का अर्थ है परिग्रह और परिग्रह का अर्थ है धर्म का विलोम।

महावीर की प्रकल्पना का एक स्वर्ग अहमिन्द्र है जहाँ हर व्यक्ति अपने को अहमिन्द्र—अर्थात् मैं ही इन्द्र या देवराज—कहता है। हर व्यक्ति वहाँ राजा है। प्रजा कोई नहीं। हर व्यक्ति शासक है, शासित कोई नहीं। अपना शासन अर्थात् आत्मानुशासन ही वहाँ की व्यवस्था है। प्रजातन्त्र का इससे उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। समानता की इससे बड़ी प्रकल्पना शायद ही कहीं मिलती हो।

सह-अस्तित्व

प्रजातन्त्र का तीसरा सूत्र है—सह-अस्तित्व। इसका अर्थ है, हर व्यक्ति दूसरे के जीवन तथा अधिकार का आदर करे, उसका अतिक्रमण न करे। महावीर सह-अस्तित्व के सूत्र को विचारों की अतल गहराइयों तक ले गये। विचार के क्षेत्र में भी किसी पर आग्रह थोपना ग़लत है। सत्य अनन्तमुखी है—उसको पूर्णतः देख पाना सर्वज्ञ के अलावा किसी के लिए सम्भव नहीं। अतः किसी को ग़लत और अपने को ही सही नहीं मानना चाहिए। अपनी अपेक्षा से हम सही हो सकते हैं तो हमारा प्रतिपक्षी उसकी अपनी अपेक्षा से सही हो सकता है। अतः विचारों को लेकर किसी के प्रति असहिष्णुता नहीं। जीवन-पद्धतियों को लेकर किसी का विरोध नहीं। किसी के आत्मनिर्णय के अधिकार का अतिक्रमण नहीं। यह है महावीर के अनेकान्त का आदर्श और यही आज प्रजातन्त्र का प्राण-सूत्र माना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का मूल हेतु आत्मनिर्णय और स्वायत्तता की यही भावना थी जो महावीर की जीवन-दृष्टि में अनेकान्त के रूप में एक व्यापक दार्शनिक परिवेश में प्रकट हुई। आज देश में भाषा, प्रान्त, सम्प्रदाय, वाद, दल आदि को लेकर जो विखण्डनकारी प्रवृत्तियाँ यत्र-तत्र चलती आ रही हैं वे अनेकान्त की प्रतिष्ठा से स्वतः निर्मूलित हो सकती हैं।

इस प्रकार हम प्रजातन्त्र के मूल आदर्शों की सरल एवं व्यापक आधारभूमि महावीर के चिन्तन में पाते हैं। प्रजातन्त्र का मूल आदर्श है अहिंसा, जो हमारी संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु रहा है। अहिंसा की ही निष्पत्ति अनेकान्त, समता और स्वतन्त्रता है। इस अहिंसा की लोकजीवन में व्यापक प्रतिष्ठा होने से ही भारतीय प्रजातन्त्र सर्वतोभावेन निष्कलुष और सम्पूर्णतः सफल हो पायेगा। ●

महावीर : आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में

☐

पचीस शताब्दियों पूर्व जिसका निर्वाण हो चुका, उस व्यक्ति के विचारों से बीसवीं शताब्दी के महानतम मनोवैज्ञानिकों फ्रॉयड, एडलर और जुंग के अनुसन्धानों की तुलना कहाँ तक संगत है—यह एक ऐसा प्रश्न है जो अनेकों के सामने खड़ा है।

प्राचीन और नवीन वस्तु-जगत् के सन्दर्भ में तो ये अर्थ-पूर्ण हो सकते हैं, विचारों के सन्दर्भ में नहीं होते, क्योंकि विचार की कसौटी एक ही है और वह है 'सत्य'। इसलिए विचार न प्राचीन होते हैं न नवीन, वे समीचीन या असमीचीन, सही या ग़लत हो सकते हैं।

अचेतन मन की खोज

फ्रॉयड इस शताब्दी का एक महान् मनस्तत्त्ववेत्ता के रूप में विचारों के संसार में अपना स्थायी महत्त्व पा चुका है। यद्यपि उसे अन्ध पूजा भी बहुत मिली और उसका अन्ध विरोध भी बहुत हुआ, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानवमन के गहरे अन्तराल में उतरकर उसने जो सत्य पाया वह खण्डित या अपूर्ण हो सकता है, लेकिन असत्य नहीं।

फ्रॉयड को असंयम का पक्षधर कहा जाता है, मुक्त यौनाचार का पुजारी माना जाता है। कुछ सीमा तक फ्रॉयड अपनी शब्दावली के कारण इसके लिए ज़िम्मेदार भी है। लेकिन मूलतः ऐसा नहीं है कि फ्रॉयड का इस दिशा में स्वच्छन्द और असंयत जीवन के प्रति किसी प्रकार का आग्रह रहा हो। जिनकी मानसिक दुर्बलताएँ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं पा रही थीं, उन्होंने फ्रॉयड के नाम पर कुण्ठाओं को छुपाया अवश्य, जिसके लिए फ्रायड कहाँ तक दोषी है, कहा नहीं जा सकता।

फ्रॉयड की पहली खोज थी—अचेतन मन। मनोरोगियों का इलाज करते-करते उसने पाया कि सम्मोहनावस्था में वे जो कहते हैं उससे वह एकदम विपरीत होता है जो वे जाग्रत् स्थिति में कहते हैं। फ्रॉयड को लगा कि चेतन मन की परतों के नीचे मन के कुछ अन्धकाराच्छन्न स्तर हैं जिनके बारे में अब तक मनोवैज्ञानिकों को जानकारी ही नहीं है। उसने इसे अचेतन मन कहा। इसका अर्थ यह नहीं है कि

मन के ये स्तर अपने आपमें चेतना-शून्य हैं, बल्कि यह कि हमारा चेतन मानस इनके बारे में जागरूक नहीं रहता है और उसके बारे में ये जागरूक नहीं होते। जब अचेतन मन का द्वार खुल जाता है, चेतन मन के कपाट स्वतः बन्द हो जाते हैं और जब इसका द्वार बन्द होता है तो चेतन मन के कपाट खुल जाते हैं।

आज अचेतन मन के बारे में काफ़ी जानकारियां प्राप्त हो गयी हैं। हमारे शरीर के जो कार्य स्वयंचालित माने जाते हैं, जैसे हृदय का धड़कना, फेफड़ों का फूलना-सिकुड़ना, रक्त का नाड़ियों में बहना, विविध ग्रन्थियों से समय-समय पर स्रावों का शरीर में उपयुक्तस्थलों पर उपयुक्त स्थितियों में होना, जिनके बारे में चेतन मन को जानकारी नहीं रहती, सब अचेतन मन द्वारा पूर्ण जागरूकता से नियन्त्रित एवं संचालित होते हैं। अचेतन मन पर पूर्ण अधिकार पाने के बाद जो स्वयंचालित (इनवॉलेण्टरी) शारीरिक क्रियाएँ हैं उनको स्पष्ट अनुभूत करना, भीतर से 'देखना' तथा नियन्त्रित एवं संचालित करना सहज हो जाता है। योग-साधना के अन्तर्गत इस दिशा में प्रत्याहार और धारणा की प्रक्रिया से अल्प समय में ही बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे

फ्रायड अचेतन मन का प्रथम खोजी नहीं था। मानव के चित्त के अनेक स्तर होते हैं और उनकी अपनी अभीप्साएँ होती हैं जो स्वतन्त्र किन्तु समानान्तर चलती रहती हैं—यह बात महावीर ने ढाई हज़ार वर्ष पूर्व कही थी : 'अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे'। मानव के अनेक चित्त हैं। एक समय में एक ही मन सक्रिय रहता है, एक ही विचार रहता है, एक ही क्रिया अथवा प्रतिक्रिया होती है, यह महावीर ने बहुत पूर्व कहा था जो आज मनोविज्ञान द्वारा प्रमाणपुष्ट तथ्य है। किसी क्रिया का प्रारम्भ, किसी इच्छा का जागरण, किसी वासना का संचेतन होने के बाद उसे निरस्त नहीं किया जा सकता। वह अपनी निष्पत्ति तक पहुँचने के लिए सतत संघर्ष करता ही जाता है—महावीर का यह स्पष्ट मन्तव्य अचेतन मन के सन्दर्भ में पूरा लागू होता है। इसके अलावा फ्रॉयड जिसे लिबिडो या वासना कहता है व्यापक अर्थ में, उसे महावीर 'ओघ' संज्ञा के रूप में प्ररूपित करते हैं; अर्थात् सबके मन के अचेतन आदिम स्तरों पर पायी जानेवाली मानसिक संरचना जो वासना या एषणामयी होती है।

फ्रॉयड का कहना है : मन के दो स्तर हैं—चेतन और अचेतन। चेतन मन उचित-अनुचित सामाजिक मूल्यों के प्रति जागरूक है और पहरा देता रहता है वाणी और क्रिया के सारे द्वारों पर, ताकि अचेतन मन से उठी कोई वासना वाणी या क्रिया के रूप में प्रकट न हो सके जिससे सामाजिक स्तर पर हानि हो। यह

मन भय, लालच, अहंकार तथा सामाजिक-नैतिक अवधारणाओं का बना होता है। यह एक प्रकार का निषेध-यन्त्र है—'सेंसर'; जिसका काम रोकना, जांच करना और तब जाने देना या लौटाना है। हम जिसे अन्त:करण कहते हैं वह चेतन मन ही है।

अचेतन मन जीवन के आदि से अन्त तक रहता है। सारे शरीर और उसकी हर स्वेच्छिक क्रियाओं, स्वत: संचालित नियन्त्रणों एवं संयोजनाओं का सूत्रधार है। अचेतन मन इच्छाओं, आवेगों, स्मृतियों, भावनाओं, कामनाओं का आगार होता है और किसी बाहरी नियन्त्रण या नियमन को स्वीकार नहीं करता। इससे उठी कामनाएँ जब चेतन मन से टकराकर लौट जाती हैं तो यह उन्हें अपनी शक्ति से उत्प्रेरित कर बार-बार भेजता है। इससे चेतन मन के स्तर पर आत्महीनता, कुण्ठाएँ, छुपाव, बाध्यता आदि अनेक मन:ग्रन्थियां मन और जीवन-व्यवहार के स्तर पर बन जाती हैं।

पागलपन का कारण मानसिक ग्रन्थियां

फ्रॉयड का कहना है कि अचेतन मन की कामनाओं को चेतन मन का अहं अपने बाहरी मानदण्डों के कारण दमित करता है। इससे ग्रन्थियां पैदा होती हैं और व्यक्ति असामान्य हो जाता है। शारीरिक-मानसिक स्तर पर ऐसा व्यक्ति पागल या मनोरोग-ग्रस्त होता है। वह न अपने लिए हितकारी है और न समाज के लिए।

अत: फ्रॉयड दमनमूलक संयम का पक्षधर नहीं है। उसका कहना है: ग्रन्थियों को खोलो तथा नयी ग्रन्थियां बनना रोकने के लिए अचेतन को समझो। उसे चेतन मन की सीमा में लाओ तथा चेतन मन को मुक्त करो उन वर्जनाओं से, जो कुण्ठाओं को जन्म देती हैं।

फ्रॉयड का मिशन यहीं पूरा हो जाता है। लेकिन यह कुण्ठामुक्त मन:स्थिति वर्जनाओं को ठुकरा देने के बाद जीवन की सम्यक् दृष्टि के अभाव में असंयम और अनियमितता की ओर अनिवार्यत: ले जाती है।

यहां महावीर का स्पष्ट मन्तव्य है कि जबतक अन्त:परिवर्तन की प्रक्रिया पूरी नहीं हो जाती, आत्मसंयम अपेक्षित रहता है; अन्यथा मानव का जीवन दिशाहीन हो जाता है। फ्रॉयड दमन का विरोधी है। दमन का समर्थन महावीर भी नहीं करते। दमन उत्ताप पैदा करता है। अन्त:करण में विक्षोभ उत्पन्न करता है। संयम को प्राय: दमन के समानान्तर माना जाता है लेकिन वास्तव में दोनों के मध्य आकाश-पाताल का अन्तर है।

कहाँ है अन्तर महावीर और फ्रॉयड में

महावीर और फ्रॉयड काफ़ी दूर साथ-साथ चलते हैं। सामाजिक या देश-कालगत विविध-निषेधों को वे महत्ता नहीं देते। महावीर दश धर्मों में कुल धम्मे, गाग धम्मे आदि के अन्तर्गत लोकाचारों की गणना कर छोड़ देते हैं और ये सतत परिवर्तनशील हैं यह भी स्पष्ट कर देते हैं। अतः वर्जनाओं के आधारभूत बनकर ये मानव-मन को कुण्ठित न करें—यह दोनों का स्पष्ट मन्तव्य है।

लेकिन जहाँ जीवन के मूलभूत नियमों का प्रश्न है, महावीर उन्हें प्रकृति के नियमों की भाँति अनिवार्य एवं अपरिहार्य मानते हैं; जैसे हवा का चलना, आग का जलना। महावीर की मान्यता है कि मानव-स्वतन्त्रता एक और अखण्ड है, जैसे मानवता एक और अखण्ड है। अगर एक मानव दूसरे की स्वतन्त्रता को खण्डित कर रहा है तो वह अपनी स्वतन्त्रता भी खण्डित कर रहा है। इसलिए महावीर दिशाहीन स्वच्छन्दता या हानिकारक स्वतन्त्रता के हामी नहीं हैं और उससे विरति को स्वस्थ मानसिकता मानते हैं। पूर्ण अनियन्त्रण तो पाशविकता है। महापुरुषों में संयम द्वारा इच्छा-शक्ति और संकल्प बल का विकास होता है। कुण्ठाएँ दुर्बल मन में पैदा होती हैं। महावीर का मार्ग दुर्बल मन के लिए नहीं है। 'पणया वीरा महावीहिं'—मन को मजबूत रखनेवाला इसपर आगे बढ़ सकता है। निराधार गतिरोध जैसे कुण्ठा है वैसे ही निराधार स्वच्छन्दता भी कुण्ठा है। यहाँ महावीर और फ्रॉयड के मध्य विचार-वैभिन्न्य का एक बिन्दु आता है।

इसका कारण है और वह यह कि फ्रॉयड के सामने व्यक्ति एक स्वतन्त्र इकाई है और उसकी समस्या का समाधान होना उसके लिए और इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति की समस्या का समाधान होना सबके लिए काम्य है। लेकिन वह यह भूल गया है कि जिस अबाध स्वच्छन्दता की क़ीमत पर उसने हर व्यक्ति के लिए कुण्ठामुक्ति का समाधान पाया है वह समाज, अर्थ और राजसत्ता पर टकरायेगी। उससे सामूहिक गतिरोध से कुण्ठाओं का जन्म होगा जो अन्ततः व्यक्ति को ग्रस्त करेंगी और समाज का भयानक विनाश होगा।

व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं, समष्टि भी

दोनों एक-दूसरे के एकदम विपरीत ध्रुवों पर खड़े हैं। महावीर के मन्तव्य में दोनों अतिवादिता के दो किनारे पर लटक रहे हैं। उनकी प्रकल्पना का समाज एक ऐसा समाज है जिसका हर व्यक्ति शेष सारे व्यक्तियों को अपने अन्तःकरण में एकीभूत कर जीता है तथा शेष सारे व्यक्ति उससे तदात्मीभूत होकर चलते हैं। वहाँ किसी पर किसी का बन्धन नहीं, अतः कुण्ठा भी नहीं, विकृतियाँ भी नहीं। इस समाज-रचना का आधार है अन्तःपरिवर्तन। उस अन्तःपरिवर्तन की सम्पूर्णता तक पहुँचने के पूर्व आवश्यक है संयम। यह संयम दमन नहीं है। दमनहीनतामूलक होता है, संयम करुणामूलक। दमन से कठोरता पैदा होती है, संयम से वत्सलता बढ़ती है। दमन से उत्ताप होता है, संयम से आनन्द।

फ्रॉयड के मतानुसार अचेतन मन इच्छाओं का केन्द्र है। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों, जिनमें प्रमुख आल्फ्रेड एडलर तथा कार्ल गुस्तेव जुंग हैं, ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अचेतन में इच्छाएँ उठती हैं, दमित होने पर भी रहती हैं। मूलतः अचेतन मन मूल प्रवृत्तियों से निर्मित है। इनके मूल में संस्कार (आर्केटाइप्स) होते हैं और संस्कारों के मूल में स्मृति। स्मृति का उद्गम अनुभव है। अनुभव सद् और असद् किसी भी प्रकार के हो सकते हैं—दोनों प्रकार के भी, परस्परविरोधी प्रकार के भी हो सकते हैं। अनुभव को ग्रहण करने की प्रक्रिया में पूर्वार्जित संस्कारों का योग होता है, अतः अनुभव और संस्कार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाशील रहते हैं। अनुभव से संस्कार परिमार्जित हो सकते हैं और परिमार्जित संस्कारों की उपलब्ध अनुभव के प्रति ग्रहण-शीलता और प्रतिक्रिया भी परिमार्जित एवं परिवर्तित होती है जिससे नये संस्कार बदलते जाते हैं।

मूल प्रवृत्तियों की आदिम अभिव्यक्ति भावना के स्तर पर होती है। भावनाएँ अचेतन से चेतन में अनाबाध प्रवेश पाती हैं। अतः भावना को परिष्कृत करने की व्यवस्थित प्रक्रिया अतीव महत्त्वपूर्ण है।

जुंग की अवधारणा है कि अचेतन में सद्-असद् दोनों प्रकार के संस्कार और मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः भावना के स्तर पर उनकी अभिव्यक्ति भी दोनों ही प्रकार की होगी। सद्भावनाओं को निरन्तर सबल बनाते रहने से असद् का प्रभाव कम होता जाता है। दमन नहीं होता, शमन होता है। प्रतिपक्ष सबल होता जाता है तो असद् पक्ष स्वयं धूमिल होकर क्षीण हो जाता है। इसी को महावीर संयम कहते हैं जो दमन नहीं, शमन और क्षय है। जुंग एवं फ्रॉयड ने मनोविश्लेषण की जो प्रक्रिया बतायी है वही महावीर की भी प्रक्रिया है। बुद्ध और लाओत्जे की प्रक्रिया भी वही है, क्योंकि जीवन के आधारभूत नियम तो सर्वत्र वही होते हैं।

फ्रॉयड ने कुण्ठा-विमोचन की जो प्रक्रिया प्रस्थापित की वह महावीर प्रणीत

प्रक्रिया से विपरीत नहीं अपितु उसी का प्रारम्भिक एवं सतही रूप है। महावीर उसे पीछे छोड़कर मन से अ-मन की अतल गहराइयों में उतरकर वहाँ तक पहुँच जाते हैं जहाँ कुण्ठाओं का ही नहीं, उनके आधार-बिन्दु अहं का भी विमोचन हो जाता है।

कुण्ठा-विमोचन के प्रकार

फ्रॉयड के मतानुसार कुण्ठा-विमोचन का प्रथम सूत्र है—वर्जनाओं के प्रति आग्रह से चेतन मन की मुक्ति। वर्जनाएँ वातावरण सापेक्ष देश-कालानुरूप परिवर्तनशील होती हैं। उनसे मुक्ति के लिए उनके इस स्वरूप का साक्षात्कार अपेक्षित है। महावीर की अनेकान्त दृष्टि वस्तु-जगत् के हर पक्ष को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने का आग्रह करती है। वह यहाँ कुण्ठा-विमोचन में महत्त्वपूर्ण योगदायी हो सकती है।

दूसरा सूत्र है, बिना मताग्रह अथवा किसी प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया के अपने हर भाव-विचार को देखते जाना। सुदूर बचपन तक स्मृति की डार पकड़कर नीचे उतरते जाना और साक्षात्कार करते जाना हर घटना एवं उसके मनोगत प्रभाव का। महावीर की भाषा में यही प्रतिक्रमण है, बुद्ध की भाषा में सम्यक् स्मृति। फ्रॉयड ने इसके लिए सम्मोहन, किसी व्यक्ति के सामने अपने दमित मनोभावों का प्रकाशन कर भावमुक्त होने का मार्ग बताया है तथा सतत आत्मविश्लेषण का भी। महावीर की भाषा में प्रथम आत्मालोचन है, दूसरा है प्रतिक्रमण। बुद्ध और महावीर इस प्रक्रिया को लेकर चले तो जन्म-जन्मान्तरों तक चले गये। बुद्ध ने पाँच सौ पचास जन्मों का साक्षात्कार कर इसे छोड़ा। महावीर संख्यातीत विस्तार तक जाकर अन्ततः लौट आये। क्योंकि उन्हें उसका न कहीं आदि मिला, न कहीं अन्त।

यह अन्तर्दृष्टि स्मृति की डोर पकड़कर अतीत में उतर जाती है तो प्रतिक्रमण बन जाती है तथा आत्मजागृति के रूप में वर्तमान के हर पल को सतत दृष्टि में रखने लगती है तो वह सामायिक सतत चित्त-जागरूकता या 'अवेयरनेस' है। फ्रॉयड ने भी इसपर बड़ा बल दिया है, किन्तु उसकी दृष्टि तथा प्रक्रिया बहुत सतही है। जुंग उससे कुछ गहरा गया है। उसकी मान्यता है कि विस्मृति की परतें उतारते हुए हम हज़ारों-लाखों वर्षों के अतीत में सतत जागरूकता सहित उतर सकते हैं। उसकी दिशा जुंग को भी अध्यात्म के रूप में मिली। यही महावीर का साधना-पथ है।

जुंग की धारणा है कि फ्रॉयड का लिबिडो वास्तव में एक शक्ति-स्रोत है। उसकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो सकती है—अहंकार, वासना, मोह,

क्रोध या स्वार्थ में। एडलर का कहना है कि मानव-मन की ग्रन्थियाँ अहंकार से बनती हैं—हीनता या उच्चता के रूप में। हीनता-ग्रन्थि की एक विपरीत अभिव्यक्ति ही उच्चता-ग्रन्थि है। अतः इसके मिटने से मन स्वस्थ हो जाता है। फ्रॉयड की जिजीविषा, जुंग की आत्मशक्ति तथा एडलर का अहंकार आवरण-युक्त आत्मा की स्थितियाँ हैं और महावीर की भाषा में ये आवरण अज्ञानमूलक हैं, द्वैतमूलक हैं। महावीर आवरण-क्षय में विश्वास करते हुए स्वयं अपने में उसे साकार एवं सिद्ध भी कर दिखाते हैं। वह जो निर्ग्रन्थता का मार्ग है, मन, बुद्धि और चेतन के स्तर का दिगम्बरत्व—निरावरणता है, सतत चेतन या 'जयं' है, वही मन के समस्त रोगों का उपचार, आत्मविजय का सर्वस्वीकृत एवं स्वयंसिद्ध मार्ग है।

निःशस्त्रीकरण : महावीर का मन्तव्य

□

महावीर कहते हैं : शस्त्र की परम्परा आगे बढ़ती जाती है। वह कभी रुकती नहीं। यह सम्भव नहीं है कि किसी एक बिन्दु पर उसे यथास्थिति में रखा जा सके। अगर शस्त्र का अस्तित्व है तो उसकी परम्परा अनिवार्यतः होगी और वह अपनी मूल प्रकृति के कारण आगे से आगे बढ़ती ही जायेगी।

मानव जाति का इतिहास इस नग्न सत्य का साक्षी है। प्रागैतिहासिक युग का मानव पत्थरों से लड़ता था। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने पूर्व प्रस्तर एवं प्रस्तर-युगों में व्यवहृत पत्थर के चाक़ुओं, कुल्हाड़ियों और गदाओं को प्रायः समस्त प्रागैतिहासिक सभ्यताओं में पाया है। कालान्तर में तीर-कमान बने। हाथीदाँत, लकड़ी, गेंडे के सींग आदि का प्रयोग महाभारत और उसके समकालीन ग्रन्थों में आया है। ताम्र और लौहयुगीन सभ्यताओं के विकास के साथ तलवार, कृपाण, भाले, बरछियाँ आदि बने और इनका प्रयोग भारत में तो मुग़लों के आने तक चलता रहा। उनके साथ बारूद आयी। बाबर ने राणा साँगा पर बारूद की ताक़त से विजय पायी। बारूद और विस्फोटकों का विकास अधिकतर पश्चिम में हुआ। मुग़लों के तोपखानों का संचालन और विकास डचों, फ़्रान्सीसियों और पुर्तगालियों ने किया। फिर अँगरेज़ आये। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध में बारूद का व्यापक प्रयोग हुआ। जिस व्यक्ति के नाम पर संसार का सर्वश्रेष्ठ नोबल पुरस्कार दिया जाता है वह डाइनामाइट का आविष्कारक था। आज ये सब बहुत पीछे रह गये हैं। परमाणु-शक्ति की खोज तथा उसके शस्त्र-रूप में हिरोशिमा तथा नागासाकी पर द्वितीय महायुद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा प्रयोग विश्व-युद्धों के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। एयर मार्शल टिबेट्स ने, जिसने ये बम गिराये थे, अपने हाथों हुई संहार-लीला देखी तो उसका सारा मानसिक सन्तुलन डगमगा गया। अपराध-ग्रन्थि से पीड़ित उसकी मानवीय संवेदना अनेक बार मानसिक चिकित्सा से गुज़रने के बाद भी उसे जन्म-भर पीड़ा देती रही। परमाणु शस्त्रों की लम्बी दौड़ ने पचास मेगाटन और सौ मेगाटन के विश्व-विनाशक-शस्त्रों का निर्माण करने के बाद भी सन्तोष नहीं पाया है। युद्ध-विशेषज्ञों का अनुमान है कि आनेवाले चन्द दशकों में ज़हरीली गैसों तथा रोगाणुओं का प्रयोग भी युद्धों में हो सकता है।

भय है जनक शस्त्रों का

मानसिक विकृतियों का भी शस्त्र रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इनके प्रयोग द्वारा पूरा संसार पागलों और अपराध-कर्मियों से भरा जा सकता है। भावी शस्त्रों की भयंकर सम्भावनाओं के आतंक से सारा मानव-समाज पीड़ित है। विश्व के प्रमुख वैज्ञानिकों और राजनेताओं ने बार-बार निःशस्त्रीकरण की आवाज़ उठायी है। शस्त्रों को परिसीमित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ होती रही हैं और उनका उल्लंघन करते हुए सारे देश शस्त्र-निर्माण में लगे हैं। क्योंकि किसी को किसी का विश्वास नहीं है, सबको एक-दूसरे से भय है। भय से भयानक शस्त्रों का निर्माण होता जा रहा है और उनसे भय बढ़ता ही जा रहा है। अनेक बार सारे पारमाणविक शस्त्रों को सुदूर आकाश में ले जाकर नष्ट कर देने के प्रस्ताव विश्व के विकसित राष्ट्रों ने एक-दूसरे के आगे रखे हैं, लेकिन उनपर चाहते हुए भी वे सहमत नहीं हो पाये हैं। पहल करने को कोई तैयार नहीं है। क्योंकि भय और आशंका उन्हें ऐसा करने नहीं दे रही। जब तक शस्त्रों का समूल उन्मूलन नहीं हो जाता, मानव-जाति को भय से मुक्ति नहीं मिलेगी। लेकिन इसमें बाधक भी मानव का पारस्परिक भय ही है। शस्त्रों के उत्पादन और प्रयोग के परिसीमन के प्रयास सफल नहीं हो सकते क्योंकि शस्त्रों से अभिन्न रूप से जुड़ी है उनकी परम्परा जो रुक नहीं सकती। महावीर ने यह बात पचीस सौ वर्ष पूर्व कही थी और आज संसार की वर्तमान दशा इस जीवन्त सत्य की साक्षी है।

भय और हिंसा का अभिन्न सम्बन्ध

महावीर ने कहा है : हिंसा से भय तथा भय से हिंसा, यह एक निरन्तर गतिमान अधोगामी चक्र है जिसका कोई अन्त नहीं है। जब तक भय है, हिंसा होगी और जब तक हिंसा है, भय होगा। अतीत के भय की स्मृति, वर्तमान के भय की चेतना तथा भविष्य के भय की आशंका हिंसा में अनिवार्यतः परिणत होती है :

अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वहंति,
अप्पेगे हिंसति मे त्ति वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वहंति।

—इसने मुझे मारा है, यह मुझे मार रहा है, यह मुझे मारेगा—यह सोच-कर वे एक दूसरे को मारते हैं। यह एक अन्तहीन क्रम है। आज सारा विश्व इसकी लपेट में है। इसे रोका नहीं जा सकता।

परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के दुर्निवार नियमों से बँधा हुआ यह क्रम अप्रतिहत और अपरिहार्य है। इस द्वैध में निःशस्त्रीकरण सम्भव नहीं और सीमित शस्त्रीकरण कोई अर्थ नहीं रखता। 'शस्त्र' शब्द का प्रयोग महावीर ने विशेष अर्थ में किया है। आदमी शस्त्र बाद में बनाता है, पहले वह स्वयं शस्त्र बनता है। वह जो बनाता है वे तो साधन मात्र हैं, उपादान नहीं हैं। साधन कोई भी हो सकता है। मन्दिर का घण्टा पूजा करने के समय बजाने के काम आता है, संगीतमय ध्वनि मुखरित करने में वाद्य यन्त्र के रूप में प्रयुक्त होता है। लेकिन कोई पागल पुजारी क्रोध से अन्धा होकर उससे किसी का सिर भी फोड़ सकता है। वह अपने आपमें शस्त्र नहीं है, शस्त्र बना लिया जाता है। यह बाद की घटना है। उससे पहले कि पुजारी मन्दिर के घण्टे को शस्त्र बनाता, वह स्वयं शस्त्र बना है, बन चुका है। आक्रामकता का भाव उदित होते ही व्यक्ति स्वयं शस्त्र बन जाता है। फिर एक से एक बढ़कर हिंसा के साधन खोज निकालता है। वह साधन आदिम मानव की पत्थर की कुल्हाड़ी भी हो सकती है और आज का 'गाइडेड मिसाइल' भी। दोनों से परिणमित ध्वंस के आयामों में आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है; लेकिन यह अन्तर बाह्य कारणों के सापेक्ष है। भीतर का आदमी पूरा शस्त्र बन चुका है।

भीतर से बनना है अशस्त्र

इसलिए महावीर केवल यही नहीं कहते कि शस्त्र मत बनाओ या जो बने हुए शस्त्र हैं उन्हें विसर्जित कर दो। उससे कुछ होनेवाला नहीं। एक बार सारे शस्त्र शून्य अन्तरिक्ष में विसर्जित कर देने पर भी यदि आदमी भीतर से अशस्त्र नहीं बना तो नये सिरे से और भी अधिक विनाशक शस्त्रों का निर्माण कर डालेगा। अगर भीतर से वह बन चुका है अशस्त्र तो शस्त्रों का होना या न होना उसके लिए कोई माने ही नहीं रखता। शस्त्र हमारा मन है। मन से वाणी और कर्म तक शस्त्रों की परम्परा बढ़ती रहती है, उसके आयाम फैलते रहते हैं। इन आयामों को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। इनका समूल उन्मूलन ही सम्भव है और वह तभी जबकि भीतर शस्त्र की सत्ता ही नहीं रही हो।

निःशस्त्रीकरण एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है। महावीर मानते हैं कि समस्या पारिवारिक हो या सामाजिक, राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय, उसका उद्‌गम व्यक्ति के भीतर है। वहाँ से उसकी परिव्याप्ति सर्वत्र होती है। व्यक्ति का जीवन उसके मन की प्रतिच्छाया है। मन है बाहर के पर्यावरण से मानसिक चेतना की क्रिया-प्रतिक्रिया का अनवरत क्रम। यह संवादी (हार्मोनियस) हो सकता है, विसंवादी (डिस-हार्मोनियस) भी हो सकता है। यह संग्रहात्मक हो सकता है,

विग्रहात्मक भी हो सकता है। यह एकात्मक हो सकता है, विभेदात्मक भी हो सकता है। यह शस्त्र है, यही अशस्त्र है। जहाँ यह अपने पर्यावरण पर आक्रामक हो जाता है, शस्त्र बन जाता है। जहाँ आक्रामक नहीं होता अशस्त्र बन जाता है। आक्रामकता को मनोवैज्ञानिक मानव की मूल वृत्ति मानते हैं। डार्विन अपने विकासवाद के सिद्धान्त की आधारशिला संघर्ष और आक्रामकता पर रखते हैं। अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा श्रेष्ठ का क़ायम रहना, सबसे शक्तिशाली का बचा रहना, दुर्बलों का मिट जाना, यह विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य फलित है, प्रकृति का अनुल्लंघनीय नियम है, डार्विन और उसके मतानुयायियों की दृष्टि में। अपने अस्तित्व को बचाने और उसकी सत्ता का निरन्तर विस्तार करने के लिए अनवरत संघर्ष को ही अधिकारी माना है, डार्विन ने—विकास के समस्त श्रेय का।

संघर्ष है स्वभाव को पाने का

डार्विन की प्रपत्ति (कॉन्सेप्ट) सत्य है, लेकिन खण्डित सत्य है। चेतना अनन्त पराक्रममयी है। इसे महावीर, बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट सभी मानते हैं। जड़ द्रव्य की कारा से विमुक्ति के लिए वह सतत संघर्षरत है, यह सभी स्वीकार करते हैं। अलेक्ज़ेण्डर ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'स्पेस टाइम एण्ड डीटी' में यही प्रतिपादित किया है कि दिक्काल के चौखटे (स्पेस टाइम) कण्टीन्यूअस में आबद्ध अनन्त रूपों में आत्मा अपनी निर्मल-निर्मुक्त चैतन्य सत्ता की प्राप्ति के लिए, जो उसका मूल स्वभाव है, सतत संघर्ष कर रही है। जड़ द्रव्य के आवरणों का निरन्तर विरल होते जाना ही चेतना के प्रकाश का प्रखरतर होना है। यह निरन्तर परिवर्द्धमान अन्तःप्रकाशन ही विकास है—'इवोल्युशन' है। नितान्त अव्यक्त स्थिति से लेकर स्वयं-सम्बद्ध परमात्म सत्ता तक, चेतना के सतत संघर्ष की अगणित स्थितियाँ मिलती हैं। इनमें शक्ति का निरन्तर ऊर्ध्वगमन होता रहता है। जहाँ यह अपेक्षित बिन्दु से कम है, पराभूत होकर मिट जाता है और पुनः उससे अधिक शक्तिमत्ता के साथ प्रस्फुटित होता है।

लेकिन यह संघर्ष जड़ता से, उसकी सीमाओं से, प्रकृति के अवरोधों से है चाहे वे प्रकृति की जड़ द्रव्यमयी सत्ता में मूर्तिमान हों अथवा जीवों के भीतर की मानसिक जड़ता में। प्राणियों का प्रकृति से, वातावरण से, अन्य जीवों से भी जो वातावरण के अंग हैं, संघर्ष चलता रहा है जिसमें दुर्बल की पराजय और विनाश तथा शक्तिशाली की विजय और अस्तित्व सत्ता अन्तर्भूत है। लेकिन यह प्राणियों के विविध वर्गों में होता है—प्रजातियों में। अपनी ही प्रजाति के प्राणी का विनाश कर कोई प्राणी आगे नहीं बढ़ पाता। जीवशास्त्रियों के अनुसार आदमी

और चूहा, ये दो ही प्राणी हैं जो अपनी ही प्रजाति के प्राणियों का संहार करते हैं। शेप सारे जीव-जगत् में ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। एक शेर दूसरे शेर को, एक साँप दूसरे साँप को नहीं मारता। उनमें समूह-चेतना तो नहीं है, लेकिन मूलप्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) ही उन्हें ऐसा करने से रोकती है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसमें समूह-चेतना है। विकास की संघर्षमयी प्रक्रिया से गुजरकर निरन्तर आगे बढ़ने का कारण यही सामाजिकता है। विकास का श्रेय परस्पर सहयोग को है। सहयोग की सामूहिक शक्ति से ही वह प्रकृति के अवरोधों से लड़कर उन्हें जीतता आया है। ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता के विकास का सारा श्रेय इसी सामाजिकता को है। सामाजिकता का मूल सूत्र है सहयोग, विग्रह नहीं, 'डिस हॉर्मनी' नहीं। मानव अपने लिए शस्त्र न बने—परिवार, समाज, राष्ट्र और सारे स्तरों पर—यही निःशस्त्रीकरण है, अहिंसा है।

अभय ही सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण

निःशस्त्रीकरण, अर्थात् मैं किसी के लिए शस्त्र नहीं बनूँ, किसी के साथ संघर्षमय, आक्रामक और विसंवादी नहीं बनूँ—यह लोकजीवन की एक नैतिक अपेक्षा है। उसकी मूल प्रेरणा सामाजिक चेतना है, प्रेम और सहयोग की भावना है। लेकिन आज निःशस्त्रीकरण की मूल प्रेरणा अपने विनाश की आशंका है, भय है, अतः वह शस्त्रों का निर्माण और उपयोग परिसीमित करने तक ही सीमित रह गया है। इस रूप में वह सार्थक एवं सफल नहीं हो सकता क्योंकि भय का मूल हिंसा है, वैर-वृत्ति है और वह भय से पोपित होकर निरन्तर बढ़ती ही जाती है। उसके समानान्तर ही बढ़ती रहती है शस्त्रों की परम्परा। भय से तनावयुक्त सन्तुलन को कुछ समय तक बलात् क़ायम रखने का प्रयास किया जाता है जो अन्ततः असफल होता है क्योंकि तनाव एक सीमा पार कर मरणेच्छा में बदल जाता है और उसका बाँध टूटने पर अप्रत्याशित विनाश होता है। जबतक हम वैर-वृत्ति से आक्रान्त हैं, भय होगा। भय-पीड़ित हैं तबतक शस्त्रों की परम्परा सीमित और उन्मूलित नहीं होगी। जबतक हम अपने आप में शस्त्र हैं, तबतक शस्त्रों की अन्धी दौड़ रुक नहीं सकती। जब हम स्वयं में अशस्त्र हो जाते हैं तो निःशस्त्रीकरण स्वतः हो चुकता है—चाहे शस्त्रों का अस्तित्व रहे या न रहे।

पर्युषण : एक सम्पूर्ण क्रान्ति

□

जैनागमों के अनुसार चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आषाढ़ी पूर्णिमा के ५०वें दिन भाद्रव शुक्ला पंचमी को पर्युषण किया। 'पर्युषण' शब्द का भौतिक एवं आत्मिक दोनों स्तरों पर एक ही अर्थ होता है—समीप निवास। इसका उद्भव 'वस्' धातु से हुआ है जिसका आशय है निवास करना। भौतिक स्तर पर इसका अर्थ है— किसी एक स्थान पर निवास करना। जैन साधु पाद-विहारी होते हैं। वर्षा-काल में वे पद-यात्रा बन्द कर एक स्थान पर निवास करते हैं। इसके दौरान धर्म-जागरण का विशेष क्रम चलता है। साधुओं के साथ ही श्रावक-श्राविकाओं में भी धर्म-चेतना का तीव्र जागरण होता है। यही पर्युषण है। पर्युषण युग-परिवर्तनकारी घटना का संसूचक है। जैन-परम्परा की पौराणिक मान्यता यह है कि मानव-जाति विकास और ह्रास की स्थितियों से क्रमशः गुज़रती रहती है। विकास का काल उत्सर्पिणी होता है, ह्रास का अवसर्पिणी। अवसर्पिणी की चरम सीमा है इसका छठा एवं अन्तिम 'अर'। तब पृथ्वी पर हिंसा का प्रलय आ जाता है, मानव-जाति मानसिक पतन की चरम सीमा तक उतर जाती है, कषायों एवं हिंसात्मक अध्यवसायों का प्राचुर्य मानवता को धराशायी कर चुकता है, मांस-भक्षी एवं नरभक्षी मानव वन्य पशुओं की भाँति बिलों एवं पर्वतीय कन्दराओं में रहने लगते हैं। पृथ्वी रसहीन, तीक्ष्ण-स्पर्श एवं मौसम अति उष्ण, अति शीतल हो जाता है। यह स्थिति उत्सर्पिणी के प्रथम 'अर' तक चलती है। इस काल का अन्त होने पर उत्सर्पिणी का दूसरा 'अर' प्रारम्भ होता है। सात-सात दिनों तक क्रमशः जल, दुग्ध, घृत, अमृत आदि की वर्षाएँ होती रहती हैं। ४९ दिन तक यह क्रम चलता है। सारा बाह्य वातावरण बदल जाता है। पचासवें दिन लोग बाहर आकर देखते हैं तो अतीव प्रसन्नता से भरकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। उनका अन्तःपरिवर्तन होता है। वे हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं, अहिंसा का व्रत धारण करते हैं। जैन-परम्परा के अनुसार यह दिवस अहिंसा-दिवस के रूप में युग परिवर्तनकारी घटना का संसूचक है। पशुता पर मानवता की विजय का पावन प्रतीक है। युगों की अधार्मिक चर्या के बाद धर्म-चेतना के जागरण का द्योतक है।

मनस्-क्रान्ति का प्रतीक

हिंसा का सम्बन्ध किसी के मरने-जीने से नहीं, हमारे अन्तर्मन के अध्यवसायों पर निर्भर है। बाहरी जगत् का घटना-चक्र मानवीय चेतना के अतल गह्वरों में घूमनेवाले भावचक्र की छाया मात्र है। प्रलय और सृष्टि, विकास और ह्रास हमारे भीतर होते हैं। बाहर तो उनकी भौतिक निष्पत्तियां मात्र दिखाई देती हैं जो स्थूल परिणाम के अलावा कुछ नहीं है। मन का परिवर्तन क्रान्ति है, उससे बाह्य भौतिक कलेवर स्वतः बदल जाता है। इस मनस्-क्रान्ति का प्रतीक पर्युषण है जो एक नये संवत्सर के अवतरण में परिणत होता है। यह अवतरण एक विराट् घटना है—इतिहास की महानतम घटना भी इसके आगे कुछ गौण लगती है। मानव का अपने निकट आना, अन्य मानवों के निकट आना, प्राणीमात्र के निकट आना, समग्र अस्तित्व के निकट आना और उस परम नैकट्य में सतत निवास करना। अहिंसा इसका भावना-पक्ष है, संयम इसका क्रिया-पक्ष। लेकिन अपने आपमें यह निष्पक्ष है, निरपेक्ष आत्म-चेतना मात्र। मानसिक धरातल पर हिंसा चेतना का 'स्व' तथा 'पर' में विभाजन है, विभेद तथा वैषम्य की भावना है। अहंकार तथा स्वार्थ वासनामयी वृत्तियां हैं। जबतक यह स्थिति क़ायम है, अहिंसा का जीवन में अवतरण कदापि सम्भव नहीं है। कुछ करना या न करना यहां कोई माने नहीं रखता। माने रखता है वह जो हमारे भीतर है और वह अगर चेतना का 'स्व'-'पर' में विखण्डीकरण है तो हिंसा की सत्ता उसमें सतत विद्यमान है। जहां 'दूसरा' जैसा कुछ भी कहीं रह गया है 'अनेक' की सत्ता क़ायम है, वहां तक अहिंसा का अवतरण नहीं हो पाता है। वह आत्मचेतना के उस बिन्दु पर होता है जहां हमारा 'स्व' समग्र अस्तित्व को अपनी परिधि में समेटकर निरपेक्ष-निःसीम हो जाता है, विश्वात्मा की भूमिका में अधिष्ठित हो जाता है, प्राणीमात्र के प्रति एकात्म बोध से परिप्लावित हो जाता है। हम जितना अपने से दूर होते हैं, उतने ही प्राणीमात्र से भी हो जाते हैं और जितना अपने समीप आते हैं उतने ही प्राणीमात्र के भी समीप आ जाते हैं क्योंकि गुणात्मक चेतना के धरातल पर आत्मा एक है—'एगे आया'। इस चरम एकत्व-बोध की समाधि-स्थिति को ही आध्यात्मिक धरातल पर पर्युषण साकार करता है।

हिंसा ही है नरक

महावीर ने कहा—जो एक में, अनन्य में, परम में रमण करता है, वह सर्वत्र समत्व में सुप्रतिष्ठित रहता है, वह पाप कर्म नहीं कर सकता। पाप वैषमता के अलावा कुछ नहीं है और विषमता तबतक मिट नहीं सकती जब-

तक कि हम बहुत्व से, अनेकत्व से, विभेदत्व से एकत्व एवं अभेदत्व में प्रवेश नहीं कर जाते, 'स्व' में रमण नहीं करने लगते। 'पर' में रमण करने पर ही अनेकता और भेदोपभेदों में हमारी चेतना उलझ जाती है और तब हम हिंसा की गुंजलिका में फँस जाते हैं। यह अविद्या ही हमारे क्रन्दन का कारण है—अपरिण्णाए कंदति। यही बन्धन है, मोह है, मृत्यु है, नरक है—'एस खलु गन्थे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए'। हम अपने से दूर हो जाते हैं, विलोम में डूब जाते हैं, तब सारे विपर्यास हमारे अन्तर्बाह्य जीवन को ग्रस्त कर लेते हैं। इस ग्रन्थ का विमोचन तभी होता है जब हम 'पर' को 'स्व' से पृथक् प्रतीत कर उसके सम्मोहन का निवारण करने लगते हैं, अपने स्वभाव की खोज में भीतर गहरे से गहरे पैठते हैं। तब हम पाते हैं कि हम जिसे 'मैं' कहते थे, वह तो कुछ 'और' ही है। शरीर, इन्द्रियाँ, उनके सुख-दुखात्मक अनुभव, मन, बुद्धि, अहंकार, भावनाएँ, संवेदनाएँ, विचार एवं प्रतीतियाँ सबके सब तो 'पर' हैं, हमारी आत्मसत्ता के विलोम हैं। एक-एक आवरण उतारकर देखेंगे तो पायेंगे कि सारे आवरण मिथ्या हैं। सत्य वही है जो उन सबके नीचे एक आवरणहीन सत्ता है। वह निरावरण निःसीम एवं निराकार है। अतः सब प्राणियों में उसकी ही सत्ता है; अर्थात् वह जो 'मैं' हूँ, यथार्थतः सारा अस्तित्व है और वह जो सारा अस्तित्व है, मूलतः मैं हूँ, इसी धरातल पर अहिंसा का अवतरण होता है क्योंकि यहाँ हिंसक तथा हिंसा का विषय दो नहीं रहे। महावीर के शब्दों में : 'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं त्ति मन्नसि'—तू ही है वह जिसे मानता है अपना हन्तव्य। किसकी हिंसा? किससे झूठ? किसका स्तेय? किसका भोग? किसका संग्रह? किसका शोषण? जहाँ 'दूसरा' कहीं नहीं है, वहाँ सत्ता ही नहीं रह जाती इन सबकी। इस अद्वैत चेतना का नाम है—पर्युपण, अपने 'स्व' में सतत निवास।

पर्युषण—एक सम्पूर्ण क्रान्ति

आज राष्ट्र एवं समाज हिंसा से आक्रान्त है। इसकी रोकथाम के लिए सरकार तो क़ानून ही बना सकती है, उसके उल्लंघन के लिए दण्ड की व्यवस्था कर सकती है, इसके अलावा वह कुछ भी नहीं कर सकती। लेकिन सारी व्यवस्थाओं के पीछे तो व्यक्ति खड़ा है और वह अपने अज्ञान से क्रन्दन कर रहा है, अपनी भ्रान्तियों में उलझ रहा है, अपनी मूर्च्छा में अचेत है। वह भीतर से बदल नहीं सका तो व्यवस्थाओं का पालन न स्वयं कर सकेगा, न दूसरों से करवा सकेगा। आवश्यकता है उस व्यक्ति के भीतर क्रान्ति के अवतरण की। हम समाज-क्रान्ति या राष्ट्र-क्रान्ति के प्रयासों में उलझे हैं लेकिन समाज और राष्ट्र जिस व्यक्ति की सामूहिक इकाइयाँ मात्र हैं, स्वयं उसको क्रान्त न कर पाये तो कुछ भी करने से

क्या होगा ? पर्युषण ऐसी ही एक विराट् मनस्-क्रान्ति का संसूचक है जिसके आगे इतिहास के युगान्तरकारी परिवर्तन बच्चों के खेल-जैसे प्रतीत होंगे। अपेक्षा है उसकी अन्तश्चेतना को पकड़कर अपने जीवन में साकार करने की। तभी हमारे द्वारा मनाये जानेवाले इन उत्सवों की अर्थवत्ता लोकजीवन में साकार होगी।

○

सामायिक एवं प्रतिक्रमण

□

जैन परम्परा में साधना की एक विशिष्ट एवं मौलिक प्रक्रिया उपलब्ध है। सामायिक एवं प्रतिक्रमण उसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

जैन साधना पद्धति में जागरूकता और समता पर सबसे अधिक बल दिया गया है। महर्षि पतंजलि जहां चित्त की एकाग्रता पर बल देते हैं, वहां जैन साधना चित्त की जागरूकता और समता पर बल देती है। चित्त स्वभावतः ही चंचल है। उसको एकाग्र बनाने की प्रक्रिया स्वयं तनावयुक्त है। फिर हमारी साधना का परम लक्ष्य चित्त को एकाग्र बनाना नहीं, चित्त के पार जाना है। इसलिए जैन साधना प्रारम्भ से ही चित्त-दर्शन और उससे उठनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं के प्रति समता के अभ्यास का विधान देती है। उसी साधना का पहला चरण है—सामायिक।

सामायिक

समय काल की सबसे छोटी इकाई है। जैन परम्परा में एक क्षण के असंख्यातवें भाग को समय कहा गया है। सामायिक का अर्थ है—समय-बिन्दु पर जीना, क्षण-क्षण जागरणशील रहते हुए बहिर्जगत् एवं अन्तर्जगत् की परस्पर प्रतिक्रियाओं को देखते रहना, नितान्त साक्षी भाव से, निर्विवाद एवं निश्चिन्त, निर्विचार एवं निरपेक्ष होकर। जे. कृष्णमूर्ति जिसे 'अवेयरनेश' कहते हैं, महावीर ने उसी को सामायिक कहा है। यह निर्विचार जागरूकता है जिसमें वस्तु-जगत् के प्रति निर्णय या विकल्प की कोई अपेक्षा नहीं, सतत साक्षी भाव है। सामायिक साक्षी भाव की सतत आराधना है। इसमें हमारी चेतना निर्विकल्प रहती है—अन्तर्भावना के स्तर पर। इसमें सारे जगत् के प्रति समत्व की स्थिति अन्तर्निहित है। भगवान् महावीर ने कहा :

> जे समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं॥

—जो समस्त चल-अचल प्राणियों के प्रति समत्व में संस्थित है, वही सामायिक की आराधना कर सकता है। जब तक हमारे मानस में किसी भी प्राणी के प्रति राग या द्वेष, क्रोध या घृणा, लगाव या अलगाव की अन्तःप्रतीति

है, हम सामायिक से बहुत दूर हैं। जब तक हम अपने और दूसरों के मध्य वैपम्यमयी भेद-सत्ता में खोये हैं, सामायिक का हम स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं। सामायिक के अन्तर्गत हम 'एक निश्चित समय तक राग-द्वेष से मुक्त होकर बैठते हैं, इस अभ्यास को बढ़ाने का प्रयास करते हैं ताकि अन्ततः हमारा सारा जीवन इससे अनुप्राणित हो जाये, प्रतिपल हमारी चेतना समत्व में रमण करने लगे।

हम अकसर भूत या भविष्य में जीते हैं। वर्तमान के जीवन का रसास्वादन हमने नहीं किया है। यही कारण है कि हम अनन्त-अनन्त आनन्द से भरे जीवन की अनुभूति ही नहीं कर पाते हैं। सामायिक वर्तमान में जीने का अभ्यास सिखाती है। काल की लघुतम इकाई 'समय' पर जागरूकता और समता में अवस्थित चेतना ही सामायिक है। इसलिए महान् जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने तो समय का अर्थ ही चेतना कर दिया है। समय एवं अप्पा-समय ही आत्मा है। इस व्याख्या में समय और आत्मा की अभिन्न तादात्म्य अनुभूति का चित्रण किया गया है।

जैन साधना में सामायिक का अभ्यास सबके लिए जरूरी है। फिर चाहे कोई श्रावक हो या साधु, आगार हो या अनगार। एक मुनि का तो सम्पूर्ण जीवन ही जागरूकता और समता की आराधना में बीतता है। गृहस्थ-साधक के लिए प्रतिदिन कम से कम एक मुहूर्त (४८ मिनट) का समय इसके अभ्यास में लाना अनिवार्य है। यह एक मुहूर्त का सामायिक का अभ्यास दिन-रात की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों पर अपना एक विशेष प्रभाव छोड़ जाता है। प्रतिपल अमित आनन्द का रसास्वादन करते हुए जीवन जीने की यह एक सहज-सरल प्रक्रिया है।

प्रतिक्रमण

जीवन में स्खलनाएँ हर प्राणी से होती हैं। उनकी उपेक्षा करते रहने से वे बढ़ती जाती हैं। उन्हें सतत जागरूकतापूर्वक देखने, उनके कारणोंको खोजकर उन्हें निरस्त करने से वे अल्पतर होती जाती हैं। प्रतिक्रमण इसी प्रक्रिया का नाम है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वापस लौटना। मानसिक सन्दर्भो में यह अतीत की स्मृति की साधना है। हमारा वर्तमान अतीत का ही क्रम-विकास है, जैसे भविष्य वर्तमान का क्रम-विकास होगा। अतः आज जो है वह कल से विकसित हुआ है। और उसे भविष्य के दिशाबोध के लिए उसके क्रमविकास की पूर्व-स्थितियों का पर्यवेक्षण कर ज्यादा अच्छा समझा जा सकता है। हमारी समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओंके पीछे अतीत खड़ा है, कारण रूप में, और जब तक कारणको समझ नहीं लिया जाता, कार्य और उसमें अन्तर्भूत सम्भावनाओं को समझना कठिन है। यह दैनिक जीवनका एक प्रत्यक्ष

सत्य है। आज अगर हम किसी रोग से पीड़ित हैं और किसी वैद्य के पास निदान के लिए जाते हैं तो सर्वप्रथम वह हमसे पूछेगा कि कल क्या खाया था ? क्या पिया था ? कब सोये थे ? इसी प्रकार आज का मनोवैज्ञानिक किसी भी मनोव्याधि का स्रोत ग्रन्थि में खोजता है तथा ग्रन्थि का स्रोत हमारे सुदूर अतीत तक चला जाता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान के जनक फ्रॉयड की सबसे आश्चर्यजनक प्रतिपत्ति यही थी कि सुदूर बाल्यावस्था में हमने जो अनुभूत किया था वह आज तक हमारे अचेतन मानस में ग्रन्थि के रूप में संचित होकर हमारे जीवन-व्यवहार को प्रभावित कर रहा है। अतः उसने सम्मोहन तथा साक्षात्कार दोनों ही तरीक़ों से अतीत की अतल गहराइयों में चेतन मन को पुनः उतारने की प्रक्रिया विकसित की। अब तक संसार में हज़ारों-लाखों मनोरोगी प्रतिक्रमण की इस प्रक्रिया से ही मानसिक ग्रन्थियों से मुक्ति पा सके हैं। पतंजलि ने इसके लिए 'प्रतिप्रसव' शब्द का प्रयोग किया है। प्रसव, अर्थात् पैदा होना और प्रति अर्थात् उलटा। जिस प्रक्रिया से निष्पन्न होकर हमारी अन्तर्वृत्तियाँ आज तक हमारे समग्र जीवन-व्यवहार को संचालित करती रही हैं उसमें वापस लौटना, वृत्ति से उसके स्रोत की ओर पलटकर जाना, वापस जाकर स्रोत से निष्पत्ति तक विकास की समग्र प्रक्रिया को देखकर समझना—यही प्रतिक्रमण है। मानसिक कुण्ठाओं, बाध्यताओं एवं वृत्तियों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय प्रतिक्रमण ही है।

प्रतिक्रमण की प्रक्रिया अनेक स्तरों पर की जा सकती है। प्रारम्भ में हर रात्रि सोने से पूर्व दिन-भर की घटनाओं को पुनः स्मरण करना, उनके पारस्परिक सम्बन्ध-क्रम की समीक्षा करना, उनको तटस्थ दृष्टि से विश्लेषित करना, उनके कारण-स्रोतों तक जाकर आत्म-निरीक्षण करना, यह क्रम हमें मानसिक ग्रन्थि-मुक्तता की ओर ले जाता है। उससे गहरा है अपनी हर मानसिक संरचना को लेकर अपने अतीत में उसके कारण-स्रोतों की खोज में गहरे से गहरा उतरना, सम्बद्ध घटनाओं का स्मरण एवं विश्लेषण करते हुए सुदूर बचपन तक जाना, समूचे पर्यावरण को गहराई से प्रतीत करते हुए उसके मानसगत प्रभावों को देखते रहना और बाहरी जगत् की घटनाओं के प्रभाव से अन्तर्जगत् में होने-वाली क्रमिक घटनाओं एवं उनकी अन्विति को अन्वीक्षित करना। मनोविज्ञान के क्षेत्र में अब तक इसी प्रक्रिया का प्रयोग सर्वत्र किया जाता है और इसके साक्ष्य में हज़ारों घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनका समाहार इस लघु आकलन में नहीं हो सकता। लेकिन यह आज के एक सामान्य व्यक्ति के लिए कम आश्चर्य की बात नहीं कि फ्रॉयड से हज़ारों वर्ष पूर्व महावीर ने ग्रन्थिमुक्ति के लिए प्रतिक्रमण के रूप में वही प्रक्रिया दी जिसकी खोज उसने अभी की है।

प्रतिक्रमण निर्ग्रन्थता का द्वार है। जैन परम्परा का 'निर्ग्रन्थ' शब्द बड़ा वैज्ञानिक है। इसका अर्थ है—वह जिसके कोई ग्रन्थि नहीं हो। ग्रन्थि के लिए फ्रॉयड एवं उसके उत्तराधिकारियों ने 'कॉम्पलेक्स' शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ है—उलझाव या गांठ। लेकिन ग्रन्थि 'कॉम्पलेक्स' मात्र नहीं है, उससे भी गहरी कोई चीज है। सोवियत मनोवैज्ञानिक पाव्लोव ने 'कण्डीसनिंग' शब्द दिया है जो ग्रन्थि का समानार्थ है। इसका अर्थ है—वे बँधे-बँधाये साँचे जिनमें हमारी मानसिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ सिमटकर सहज हो जाती हैं, स्वतः स्फूर्त बन जाती हैं, अचेतन मानस से चेतन मन को वश में कर उसकी हर क्रिया को पूर्व निश्चित एवं अविचारित कर देती हैं। हम यन्त्रवत् हो जाते हैं अपने अतीत के प्रभावों से निर्मित मानसिक संरचनाओं के हाथों में जिन्हें पाव्लोव 'कण्डीसण्ड रिफ़लेक्स' कहता है। इसकी गहराइयों में उतरने पर हम पायेंगे कि बन्धन और मुक्ति, संसार और निर्वाण की समस्याओं का स्रोत यहीं से प्रारम्भ होता है और इसी बिन्दु पर उसे अवरुद्ध या अनवरुद्ध किया जा सकता है। खण्डित व्यक्ति के पूर्ण होने की प्रक्रिया यही है। आज हमारे मन का सातवाँ भाग ही चेतन है, शेष छह भाग तो अचेतन हैं। अपने आपमें वे अचेतन नहीं हैं लेकिन हमारी चेतना के स्तर पर वे नहीं आ पाये हैं और यह आवश्यक है कि वे आयें क्योंकि सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित होता है जिसके हम मूकदर्शक या प्रतिबद्ध दास मात्र रहते हैं। इस विपर्यास को तोड़ना आवश्यक है। सारे मानस को चेतन करना आवश्यक है और इसकी वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रतिक्रमण है जिसे हब्बार्ड ने 'रि-मेंबरिंग' 'रि-थिंकिंग' तथा 'रि-लिविंग' अर्थात् स्मृति, अंकन एवं संवेदन कहा है।

जैन चिन्तन में संयम और अनुशासन

□

जैन परम्परा में आगम सूत्रों के अध्ययन क्रम में दस वैकालिक का प्रथम स्थान आता है। दस वैकालिक सूत्र जीवन के बुनियादी आचार का निरूपक शास्त्र है। सूत्रों के उत्तरोत्तर अध्ययन-क्रम में हम आचार से दर्शन की ओर बढ़ते हैं। आचार धर्म-साधना की बुनियाद है और आचार का मूल है संयम। आचार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विस्तारपूर्वक सकारण विवेचन दस वैकालिक में उपलब्ध है जिनके आधार पर एक साधक अपने जीवन के क्रम को रूपान्तरित कर सकता है क्योंकि मानवीय जीवन-चर्या का समग्र क्रम इसमें विद्यमान है, प्रत्येक क्रिया यहाँ निर्दिष्ट है, प्रत्येक विधि-निषेध यहाँ स्पष्ट किया गया है। जीवन-निर्देश की दृष्टि से दस वैकालिक धर्म-साधना का द्वार खोलता है। उसके प्रथम अध्याय की प्रथम गाथा में कहा गया है कि धर्म संयम है, जीवन का सम्यक् अनुशासन है।

अब प्रश्न यह उठता है कि संयम किसका हो ? निर्देश मिलता है—हत्थ संजए-पाय संजए—हाथ का संयम, पाँव का संयम, सारी कर्मेन्द्रियों का संयम, सारी ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाली अनुभूतियों के प्रति होनेवाले राग-द्वेपमूलक मानसिक परिणामों का संयम। स्थानांग सूत्र में ही भगवान् ने कहा है कि मुण्डन दस प्रकार का होता है—पाँच इन्द्रियों—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा; चार कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अन्तिम शिर का। वही दस प्रकार का संयम भी प्ररूपित किया गया है जो इन्द्रियों तथा कषायों से सम्बद्ध है।

यह संयम मन, वाणी और कर्म के सारे स्तरों पर होता है। मन के स्तर पर राग-द्वेषात्मक संकल्प-विकल्पों का तथा वाणी और कर्म के स्तर पर उनकी क्रिया-प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्तियों का जो हिंसा, परिग्रह, अब्रह्मचर्य, स्तेय एवं असत्य के रूप में व्यावहारिक स्तर पर होती हैं। बाह्य संयम द्रव्य संयम है जिसकी सत्ता आन्तरिक भाव संयम पर टिकी है और उसके अभाव में उसका कोई अर्थ नहीं होता। दस वैकालिक के 'रथनेमीय' नामक अध्ययन में राजीमती कहती है—किसी को वस्त्र, अलंकार, स्त्रियाँ उपलब्ध नहीं हों और वह उनके उपभोग से विवशता के कारण विरत हो, चाहे वह अभाव से निष्पन्न हो या भय से, तो उसकी विरति संयम नहीं है। यदि कोई व्यक्ति इन सबके उपलब्ध होने पर भी, बाह्य दबाव, आशंका या बाधा न होने पर भी इनसे विरत हो तो वह

संयमी है। संयम का स्रोत अत्यन्त संकल्प है जो भीतर से निष्पन्न है, दमन नहीं जो बाहर से आरोपित होता है। यह आत्म-संकल्प प्रज्ञा से निष्पन्न होता है। प्रज्ञा की ज्योति में आत्मसमीक्षण की अनिवार्य परिणति संयम है क्योंकि सारे असंयम का स्रोत प्रज्ञा का अभाव एवं तत्संभूत मूर्च्छा मात्र है। संयम का प्रभाव हमारे चेतन या अवचेतन मानस पर दमन के रूप में कभी नहीं पड़ता, अगर पड़ता हो तो वह संयम नहीं है। दमन ही है। महावीर दमन को साधना के क्षेत्र में साधक नहीं मानते, प्रत्युत स्पष्टतः बाधक मानते हैं। भगवान् ने कहा—जिसकी संयम में रति है उसके लिए वह देवलोक की तरह सुखद है, अरति है, उसके लिए महा-नरक की भांति है। दमित मानस की स्थिति आचारांग के इन शब्दों में साकार है—'दमित काम से पीड़ित मानव ग्रन्थियों से ग्रस्त है, विषण्ण है।'

दमन अपने से अपनी पराजय है जबकि संयम आत्मविजय की गौरवमयी प्रक्रिया है। उत्तराध्ययन में केशी गौतम से पूछते हैं कि वे चारों ओर से असंख्य शत्रुओं से घिरे रहकर भी, उनके निरन्तर प्रहार झेलते हुए भी उन्हें कैसे जीते हुए हैं। गौतम कहते हैं कि एक को जीतकर वे पांच को, पांच को जीतकर दस को जीत चुके हैं। केशी के एक और पाँच का रहस्य पूछने पर गौतम स्पष्ट करते हैं—एक शत्रु है अविजित आत्मा, पांच हैं इन्द्रियां, चार हैं कषाय। जिसने एक आत्मा को जीत लिया उससे पांच इन्द्रियाँ जीत ली गयीं, जिससे पांच जीत ली गयीं उससे दस—आत्मा, पांच इन्द्रियां, चार कषाय—सब जीत लिये गये।

संयम की आराधना के लिए बाह्य आलम्बन के रूप में किसी आत्मज्ञानी संयमी श्रेष्ठ साधक के उपपात में निरन्तर रहकर उसके निर्देशानुसार जीवन की साधना की अपेक्षा है। आगम सूत्रों में गुरु के उपपात में रहकर अनुशासन के द्वारा संयम की आराधना करने के निर्देश सर्वत्र मिलते हैं। उत्तराध्ययन में विनीत शिष्य को परिभाषित किया गया है : "गुरु के उपपात में रहकर आज्ञा-निर्देश का पालन करनेवाला, गुरु के इंगित-आकार को पहचाननेवाला शिष्य विनीत—अनुशासित कहलाता है। गुरु के समीप, उसके निर्देशानुसार साधना करनेवाला शिष्य संयम के पथ पर अग्रसर होते हुए धर्म को जीवन में साकार कर उस स्थिति तक पहुँच जाता है, जहाँ से वह आत्मचेतना की ज्योति में सिद्धि के पथ पर स्वयं आगे बढ़ने में समर्थ हो पाता है। जब तक उसे आलम्बन की आवश्यकता है, अगर वह अहंकार, क्रोध, छल या जिद के कारण, गुरु से शिक्षा ग्रहण नहीं करता, उसके अनुशासन में संयम-पथ पर अग्रसर नहीं होता तो वह स्थिति कीचक के फल की तरह उसके विनाश की ही कारण बनती है। कीचक

का फल विकसित होकर जैसे वृक्ष का विनाश कर देता है वैसे ही अहंकार, क्रोध, छल आदि से पोषित अनुशासनहीनता व्यक्ति की संयम-साधना के लिए घातक है; परिणामतः उसके जीवन-विकास के लिए सर्वथा प्रतिकूल है। यह बात हमारे दैनन्दिन जीवनानुभवों की कसौटी पर कसकर देखी जा सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—हो सकता है कदाचित् वह सिर से टकराकर पर्वत को भेद डाले, कुपित सिंह भी उसका भक्षण न करे, हलाहल विष भी उसे नहीं मारे पर गुरु की अवहेलना करनेवाले को मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। गुरु संयम का पथ-प्रदर्शक होने के साथ ही उसकी कसौटी भी है जिस पर खरा उतरने पर ही साधक संयम-धर्म की आराधना कर सकता है। भगवान् ने विनय समाधि के चार चरण बताये हैं—(१) अनुशासन को मानना, (२) सम्यक् रूप से अंगीकार करना, (३) अनुशासन की आराधना करना, (४) अहंकार न करना। इन चारों की परिपूर्णता का नाम ही विनय-समाधि है।

वर्तमान मूल्यों के सन्दर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि यह सारी विनय की व्यवस्था किसके लिए? क्या यह दासता का ही एक प्रकार नहीं है? किसी को नमस्कार करना, चरण-स्पर्श करना ही विनय का लक्षण है? किन्तु मैं समझता हूँ ये सारे प्रश्न तबतक ही खड़े रह सकते हैं जबतक हम विनय को व्यावहारिक आचार-मूलक विधि-निषेधों में ही देखते हैं। जैन चिन्तन विनय को अहंकार-विगलन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मानता है। जो भी व्यक्ति साधना में प्रवेश करना चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि अपने भीतर छिपे अहंकार को वह तोड़े। जब तक अहंकार नहीं टूटेगा, वह साधना में प्रवेश नहीं कर पायेगा। बारह महीनों तक अडोल चट्टान की तरह निष्प्रकम्प खड़े भगवान् बाहुबलि भी तबतक कैवल्य-शिखर तक नहीं पहुँच सके, जबतक उनके मन में अहं की एक छोटी-सी चिनगारी शेष बच रही थी। उसी अहंकार को तोड़ने का सरलतम साधन है विनय। अहंकारयुक्त चित्त से गृहीत ज्ञान 'ज़हर' का ही काम करता है। दूसरों के विनाश का कारण भी है, अपने विनाश का कारण भी। इसीलिए विनय की व्यवस्था पर जैन चिन्तन ने बहुत बल दिया है।

विनय दासता का प्रकार बिलकुल नहीं हो सकता। दासता विवशता है, विनय व्यक्ति का अपना सहज गुण। फिर दासता का सम्बन्ध किसी दूसरे से है। एक होता है मालिक, दूसरा होता है दास। मालिक चढ़ा हुआ है दास की पीठ पर और दास प्रतिक्षण उससे छुटकारा पाने की कोशिश में है। विनय के साथ यह द्वैत-भाव नहीं है। यह व्यक्ति का अपना निरभिमान स्वरूप है, अपने भीतर का सहज समर्पित गुण। विनय औरों के लिए नहीं है, गुरु के लिए भी नहीं है, स्वयं अपने लिए है। अपने अहंकार को तोड़ने के लिए है। यह ठीक है उसकी

अभिव्यक्ति गुरु के समक्ष ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह गुरु के लिए ही है। इसका अर्थ इतना-सा ही है कि प्रारम्भ में वह गुरु के समक्ष ही अभिव्यक्त होता है। वह इतना विनीत-सरल अभी नहीं हो गया है कि वह विनम्रता हर किसी के समक्ष प्रकट हो जाये। यद्यपि विनय की सम्पूर्णता वहीं है जहाँ वह व्यक्ति-निरपेक्ष होकर अभिव्यक्त हो।

गुरुजनों को नमस्कार करना, चरण-स्पर्श करना विनय की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। जैसे क्रोध आने के समय व्यक्ति की मुट्ठियाँ तन जाती हैं, आँखों में खून उतर आता है, होंठ फड़फड़ाने लगते हैं। इस प्रकार की मुद्राओं से हमें लगता है कि यह व्यक्ति अभी क्रोधावस्था में है। उसी प्रकार दोनों हाथों का जुड़ जाना, चरण-स्पर्श के लिए झुकना आदि मुद्राएँ भीतर विकसित हो रहे अहंकार-विगलन की सूचक हैं, विनय की सूचना देती हैं। जो जितना झुकता है, वह उतना ही ऊपर उठता है। जो पीछे खड़ा है, वही अग्रगण्य होता है। मात्र यही प्रयोजन है व्यावहारिक आचारमूलक विनय का।

अनुशासन और विनय का परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। ये दोनों आधार-शिलाएँ हैं अध्यात्म-साधना की। संयम जहाँ वृत्तियों का रूपान्तरण होकर भीतर की ओर बहनेवाली धारा है, वहाँ अनुशासन और विनय उस धारा को सुरक्षा देनेवाले तट हैं जिनके बीच बहती हुई साधना की सरिता उस अनन्त विराट् स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

अध्यात्म-साधना की दृष्टि से तो संयम और अनुशासन का अपरिहार्य महत्त्व है ही, राष्ट्र और समाज के सन्दर्भ में भी इनका मूल्य कम नहीं है। जिस समाज में जितनी मात्रा में संयम और अनुशासन का विकास होगा, वहाँ शासन उतना ही कम आवश्यक होगा। जहाँ अनुशासन टूटता है, शासन का तब उदय होता है। अभी पवनार आश्रम में अपने एकवर्षीय मौन पर आचार्य विनोबा भावे ने अनुशासन एवं शासन के मध्य भेदरेखा स्पष्ट की है। अनुशासन अन्तःकरण से निष्पन्न है, फूल की तरह व्यक्तित्व का भीतर से मुकुलन है जबकि शासन बाहर से कठोरतापूर्वक आरोपण है। संसार के इतिहास में यह सत्य सदा सप्रमाण साकार रहा है कि शासन के आधार पर समाजों एवं राष्ट्रों को बदलने की कोशिशों ने हिंसा को ही विविध विकृत रूपों में प्रस्तुत किया है जबकि वास्तविक एवं स्थायी प्रभावकारी परिवर्तन अनुशासन के द्वारा ही हुआ है। आचार्य विनोबा ने यह भी स्पष्ट किया है कि अनुशासन का आचार्य-परम्परा से सम्बन्ध है इसलिए राष्ट्र में अनुशासन को प्रतिष्ठित करने के लिए आचार्य कुलों को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए। अपेक्षा है कि हम वर्तमान स्थितियों के आलोक में भी संयम, अनुशासन एवं शासन के अन्तःसम्बन्धों पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें। ●

अनुकम्पा नहीं है मोह

□

अनुकम्पा और मोह में क्या अन्तर है ? यह प्रश्न बहुधा हमारे समक्ष आता रहता है। महावीर ने हमें मोह से मुक्त रहने तथा अनुकम्पा से मुक्त रहने को कहा है। लेकिन हम कहाँ अनुकम्पा से मोह में प्रवेश कर जाते हैं, इसका सामान्यतः हमें अन्तर्बोध रहता ही नहीं; जबकि हमारे समग्र जीवन-व्यवहार के सारे स्तरों पर इसकी सम्यक् परिज्ञा आवश्यक है। दार्शनिक स्तर पर दोनों में क्या भेद है, इसे छोड़कर मानसिक स्थितियों के पटल पर अगर हम गहराई में जाकर देखें तो हमें दोनों के मध्य एक सूक्ष्म भेद-रेखा अवश्य मिलेगी।

मोह जुड़ा है अहं से

मोह अहंमयी चेतना की अभिव्यक्ति है। जिस व्यक्ति से हम भावना से जुड़े होते हैं वह 'हमारा' होता है, हमारे 'मैं' का विस्तार होता है। उसके प्रति हमारी संवेदना उसके हमारे जीवन के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण होती है। मोह जीवन से होता है। चाहे वह हमारा हो या हमसे संयुक्त किसी का। वह हमारी इच्छा का एक विषय होता है, हमारे अपने सुख से जुड़ा होता है जिसका अभाव हमारे लिए सुख में अल्पता का कारण होता है। हम उसे नहीं, उससे संयुक्त सुख से, सुख की कामना से, कामना के पीछे खड़े अपने अहं से, अहं की जड़ देहात्मबोध से प्यार करते हैं।

मोह अज्ञान है, ऐन्द्रिय प्रतीत्याभासों से निष्पन्न देहात्मबोधमूलक सम्मोहन है, अन्तश्चेतना की मूर्च्छा है, प्राणों का बन्धन है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ, इस एक मोहनीय कर्म को छोड़ दो। मैं तुम्हारी मुक्ति का उत्तरदायित्व लेता हूँ। महावीर कहते हैं—मोहनीय कर्म ही शेष सब कर्मों का राजा है। जो इसे जीत लेता है उससे सब स्वतः विजित हो जाते हैं। मोह से तृष्णा होती है तथा तृष्णा से मोह, जैसे बलाका से अण्डा और अण्डे से पुनः बलाका। कृष्ण ने भी आसक्ति को ही बन्धन माना है तथा इसका स्रोत अज्ञान बताया है। ऋग्वेद असुरों को देहपूजक कहकर इसी सत्य की प्रतिष्ठापना करता है। क्राइस्ट कहता है—जो अपने को बचाना चाहता है वही असल में अपने को मिटा रहा है। जिसने अपने को बचाने की कामना छोड़ दी वह सदा के लिए बच गया। पैग़म्बर मुहम्मद ने इसी

को अहंकार की, संसार की क्रीड़ा में डूब जाने की संज्ञा दी है जो हमारी सारी पीड़ाओं का स्रोत है। मोह जीवन से होता है, सुख से होता है, उसका केन्द्र 'मेरापन' होता है, यह हमारी मैं-चेतना का ही विस्तार होता है और यह मैं-चेतना देहात्मबोध होने के कारण सत्य नहीं मिथ्या होती है, अज्ञान होती है, बन्धन होती है। महावीर के शब्दों में यही ग्रन्थि है, मोह है, मृत्यु है तथा नरक है—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए। मोह अपने आपमें हिंसा ही है क्योंकि वह समग्र अस्तित्व की अविभाज्य एकता का नकार है जो विश्व-जीवन का परम सत्य है।

प्रेम, करुणा या देह-पूजा ?

अनुकम्पा मैं-मयी चेतना से निष्पन्न नहीं होती। मैं-मयी चेतना समग्र अस्तित्व को 'स्व' तथा 'पर' में बाँटकर 'स्व' के प्रति कामनामय आकर्षण से लिप्त होती है तथा 'पर' के प्रति नकारात्मक मूर्च्छा से ग्रस्त होती है। एक व्यक्ति अपने परिवार के लिए प्राण दे सकता है, असह्य वेदना को सह सकता है, लेकिन उसके ममत्व की परिधि के बाहर जो असंख्य मानव तथा मानवेतर प्राणी हैं उनके सुख-दुःख के प्रति जागरूक नहीं रहता। वह 'अपने' तथा 'अपनों' के लिए 'शेष' सबकी उपेक्षा करता चलता है, उनके दुःख की क़ीमत पर सुख पाने, उनके हनन की क़ीमत पर स्वयं जीवित रहने का प्रयास करता रहता है। वह हिंसक है क्योंकि विश्वजीवन की एकता को अपने भीतर खण्डित कर चुका है, दूसरों का अस्तित्व अपने लिए सर्वथा मिटा चुका है, उनका अभ्याख्यान करता है, अपलाप करता है, उपेक्षा करता है। वह 'अपने' तथा 'अपनों' के जीवन तथा सुख के प्रति आसक्त है तथा दूसरों के जीवन तथा सुख के प्रति उदासीन। क्योंकि उसकी अहंचेतना उनके साथ ममत्व से नहीं जुड़ी है। यह एक प्रकार की अज्ञानमूलक कायरता है जिसकी पृष्ठभूमि में स्वार्थ की अहंमयी सत्ता खड़ी है। वह माँ जो अपने मृत शिशु के लिए रो रही है, दरअसल उसके होने से स्वयं उसे जो प्राप्त हो रहा था उसके खो जाने से रो रही है। ऐसा मानव में ही नहीं पशु-जगत् में भी होता है, बल्कि कहना यह चाहिए कि मानव में भी वह पशु-जगत् की ही विरासत है, वैदिक ऋषि के शब्दों में देह-पूजकता। इसे हम वात्सल्य, प्रेम, करुणा आदि सुन्दर शब्दों से विभूषित करते हैं, लेकिन अपनी मूल सत्ता में यह देह-पूजा के सिवाय कुछ नहीं है।

अनुकम्पा है देहातीत अवस्था

अनुकम्पा समग्र अस्तित्व के साथ, उसके अनन्त नाम-रूपों में, अखण्ड एकता का सतत अन्तर्बोध है, भावना नहीं प्रज्ञा है, प्रतीति नहीं प्रत्यभिज्ञा या

पहचान है। इसमें किसी के, स्वयं अपने भी, मरने-जीने के प्रति आकर्षण-विकर्षण का भाव नहीं होता, बल्कि सबके प्राण सत्त्व के साथ एकमेक होने की सतत चेतना रहती है। यह किसी का जीवन बचाने की प्रेरणा नहीं बनती, क्योंकि इसके पीछे यह अन्तर्बोध खड़ा है कि अपनी मूलसत्ता में जीवन अमर ही है। यह जो मरता हुआ प्रतीत होता है, मरा हुआ ही है, एक उपकरण मात्र। यह जो उसके पीछे खड़ा है, शाश्वत, ध्रुव और नित्य है। यह जीवन-मृत्यु के द्वन्द्व के कारणभूत अज्ञान को मिटाने को सतत तत्पर होती है। बुद्ध और महावीर, क्राइस्ट और कृष्ण, लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस का जीवन इसका उदाहरण है। ये सब धर्म-प्रणेता अनुकम्पा के साकार रूप थे। महावीर की अनुकम्पा मृत्यु एवं पीड़ा के प्रतिकार के लिए प्रयत्नशील नहीं होती क्योंकि ये रोग के बाहरी परिणाम हैं, आन्तरिक कारण नहीं। रोग के कारण को मिटाने से ही परिणामों से मुक्ति हो सकती है, अतः उनकी अनुकम्पा समग्र विश्व को कर्ममुक्ति की राह बताने में व्यक्त हुई। जब गोशालक ने तेजोलेश्या के प्रक्षेपण द्वारा महावीर की आँखों के आगे दो मुनियों को भस्म कर दिया, तब महावीर प्रस्तर-प्रतिमा की तरह बैठे रहे। जब स्वयं उनपर भी तेजोलेश्या का प्रक्षेपण हुआ तब भी उन्होंने उसका प्रतिकार नहीं किया। जब संगम ने रात्रि पर्यन्त उन्हें मारणान्तिक कष्ट दिये तब भी वे अविचल रहे। लेकिन गोशालक एवं संगम इन कार्यों द्वारा अपने लिए जो वेदनीय कर्मों का संचय कर रहे थे, उनके मन के भीतर जो तीव्र वैरवृत्ति तथा क्रूरता का उद्रेक पापकर्मों के संचय में निमित्त बन रही थी, उसके प्रति वे अनुकम्पा से आप्लावित थे। संगम से उन्होंने कहा—मुझे तुमने अपनी समझ में जो कष्ट दिये उनके लिए मेरे मन में कोई दुःख नहीं है। दुःख यही है कि मुझे निमित्त बनाकर तुमने इतने भीषण परिणाम-वाले पापकर्मों का संचय कर लिया है कि जिनसे मुक्ति पाना तुम्हारे लिए जन्म-जन्मान्तरों तक कठिन रहेगा और जिनका परिपाक तुम्हारे लिए असह्य पीड़ा का स्रोत बनेगा। मेरे तो संचित कर्मों की निर्जरा हुई है, किन्तु तुम्हारे कर्मों का संचय हुआ है। अतः मुझे अपने लिए नहीं, तुम्हारे लिए खेद अवश्य है।

जाग्रत् प्रज्ञा

इस अनुकम्पा में भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं है। किसी के मरने या जीने, सुखी या दुःखी होने से इसका कोई सरोकार नहीं है क्योंकि यह जाग्रत् प्रज्ञा है जो इनकी अनिवार्यता का सतत बोध रखती है। लेकिन किसी के दुःख या हनन में कारण बनने से हमें रोकती है, इसलिए नहीं कि उससे उसका कुछ अशुभ होनेवाला है; बल्कि इसलिए कि उससे हमारा अपना अशुभ होनेवाला

है। किसी को भी मारने से पूर्व व्यक्ति अपने भीतर उससे तादात्म्य को, जो जीवन का सत्य है, मारता है, जीवन की अखण्ड एकता को खण्डित करता है, प्रकारान्तर से अपने को ही खण्डित करता है और मारता है क्योंकि उसकी सत्ता और अर्थवत्ता उस समग्र एकत्व में ही सन्निहित है। इसलिए महावीर कहते हैं—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं त्ति मन्नसि—जिसे तू हन्तव्य, मारने की क्रिया का विषय मानता है वह तो स्वयं तू ही है। इसलिए महावीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति के जीवों के प्रति उपेक्षा को, उनके अतिक्रमण को, उनके प्रति प्रमाद को, उनके साथ एकात्मकता की अनुभूति के भंग होने को, उनके साथ अनुकम्पा का तार टूटने को हिंसा कहते हैं, उनके मरने-मिटने या सुखी-दुःखी होने को नहीं। किसी के मरने से हिंसा नहीं होती, किसी के जीने से अहिंसा नहीं होती। इसी दृष्टि को आत्मसात् करते हुए तेरापन्थ प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने कहा :

"जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुणखाण।।"

हमारे भीतर अनुकम्पा का होना ही अहिंसा है, अनुकम्पा का न होना ही हिंसा है। अनुकम्पा है समग्र जीवन के साथ अभिन्न एकता की अनुभूति। चेतना के सारे स्तरों पर चिर अभिन्न एवं अखण्ड प्रतीति।

कौन है हन्ता, कौन है हन्तव्य ?

□

धर्म मृत्यु की सत्ता स्वीकार नहीं करता। वह जो मरता है, मरा हुआ ही है। वह जो जीवित है, कभी नहीं मरता। जीवन में ही मरण की प्रतीति होती है। वह प्रतीति इसीलिए होती है क्योंकि जीवन-सत्ता विद्यमान है, अतः वह जीवन का ही एक और अभिन्न भाग है। जीवन के पार अनुभूति होती ही नहीं। जिसे हम जीवन का अभाव कहते हैं उसकी प्रतीति भी जीवन में ही होती है, अतः अभाव नहीं है। जिसे हम अभाव कहते हैं उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। जिसकी प्रतीति हो सकती है वह अभाव नहीं हो सकता।

अगर जीवन एक सत्य है तो उसमें मृत्यु के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अगर स्थान है तो जीवन सत्य है ही नहीं, उसकी अस्तित्वमत्ता और अर्थ-सत्ता है ही नहीं। तब उसके प्रति आकर्षण-विकर्षण का कोई अर्थ रह ही नहीं जाता। अतः अहिंसा की आधारशिला मरण के अभाव पर नहीं रखी जा सकती तथा हिंसा की प्रतिष्ठापना मरण की सत्ता पर नहीं की जा सकती। अहिंसा मरण का नकार नहीं है, हिंसा जीवन का नकार नहीं है। अगर होते तो महावीर या बुद्ध के लिए इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता।

एक ही है जीवन-सत्ता

समग्र विश्व को हम जड़-चेतन दो भागों में विभाजित करते हैं, लेकिन जिसे हम जड़ जगत् कहते हैं वह हमारे ऐन्द्रिय संस्थान पर बाह्य अस्तित्व के प्रभाव की प्रतिक्रिया मात्र है जो भीतर प्रतिभासित होती है। अस्तित्व की सत्ता जिसमें अन्तर्निहित है वह है चैतन्य, जिसका आलोक ही बाहर के जगत् को सत्ता और अर्थवत्ता प्रदान करता है। उसका आलोक अनन्त प्रकार के द्वारों से व्यक्त हो सकता है, लेकिन अपने आपमें वह एक और अविभाज्य सत्ता है। एककोषीय जीव अमीबा से लेकर बहुकोषीय मानव तक एक जीवन-सत्ता अपने को अनन्त रूपों में साकार कर रही है। किसी भी प्राणी पर अगर हम कोई प्रहार करते हैं तो वह उस जीवन-सत्ता पर ही करते हैं और चूँकि वही हम स्वयं हैं, अतः अपने पर ही करते हैं। अतः हर हत्या प्रकारान्तर से आत्महत्या ही है, पर-पीड़न प्रकारान्तर से आत्मपीड़न है। यद्यपि पीड़ा और मृत्यु भी ऐन्द्रिय प्रतीति

मात्र हैं, लेकिन जबतक हम ऐन्द्रिय प्रतीति के माया-विश्व में ही जीते हैं तबतक उसकी संवेदना के साथ हमारा आत्मभाव जुड़ा रहता है। अगर हम मृत्यु को नहीं चाहते तो किसी के लिए उसे चाहना आत्महनन की कामना के अलावा कुछ नहीं है जो हमारे लिए ही अकाम्य है। जिस पल मृत्यु की हमारे लिए सत्ता रही ही नहीं उस पल हमारे हाथों किसी के मर जाने पर भी हमें कुछ होनेवाला नहीं। क्योंकि भीतर मृत्यु की सत्ता नहीं है। मारनेवाले तथा मरनेवाले का अस्तित्व ही नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति माता-पिता, गुरु और मूर्धाभिषिक्त राजा तथा पूरे जनपद को मारने पर भी पाप में लिप्त नहीं होता। क्योंकि वास्तव में मरनेवाले तथा मारनेवाले की सत्ता वहाँ है ही नहीं। अन्यथा किसी को न छूने पर भी हिंसा से हम सतत लिप्त रहते हैं।

कौन है हन्ता, कौन है हन्तव्य

मारने और बचाने के सन्दर्भों में हिंसा और अहिंसा की एकान्तिक व्याख्या नहीं हो सकती। कैवल्य प्राप्ति के पूर्व महावीर अपने सहवर्ती गोशालक को तपस्वी वैशम्पायन द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या की प्रचण्ड ज्वाला से शीतललेश्या के प्रयोग द्वारा बचाते हैं। लेकिन तीर्थंकरत्व की स्थिति में गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या से अपनी आँखों के आगे अपने गण के दो मुनियों के जलकर भस्म हो जाने पर भी उन्हें नहीं बचाते। प्रथम स्थिति में उनका जीवन और उसकी ऐन्द्रिय-प्रतीतियों के साथ तादात्म्य है। दूसरी स्थिति में वे समग्र अस्तित्व में व्याप्त देहातीत एक, अखण्ड और चिरन्तन जीवन-सत्ता से तादात्म्य कर चुके हैं। अब वहाँ मृत्यु और वेदना की सत्ता ही नहीं है, न अपने लिए, न दूसरों के लिए। अतः बचाना भी हिंसा है क्योंकि बचाने का अर्थ होगा हन्ता और हन्तव्य में उस एक जीवन-सत्ता को बाँट देना जो चेतना की गुणाश्रित एवं प्रमत्त अवस्था है—हिंसा का साकार रूप। वहाँ अपने पर गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजालेश्या का भी प्रतिकार महावीर नहीं करते, क्योंकि 'मैं' उस विन्दु पर स्थित है जहाँ मृत्यु और जीवन सुख और दुःख के द्वैत की सत्ता ही नहीं हैं। रह गयी है केवल शाश्वत अस्तित्व की अमर चेतना। "नायं हन्ति न हन्यते" —वह न मारता है न मरता है। वे अपने लिए जैसा प्रतीत करते हैं, वैसा ही दूसरों के लिए भी करते हैं। अपने और दूसरे भी वहाँ हमारे अपने सन्दर्भ मात्र हैं जो भाषा और अभिव्यक्ति के साथ जुड़े हैं। तत्त्वतः वहाँ इस द्वैत की सत्ता ही नहीं है। एकोवि अहं, बीयो वि अहं, अक्खयो वि अहं, अव्वयो वि अहं—मैं एक हूँ, मैं दो हूँ, मैं अक्षय हूँ, मैं अव्यय हूँ। इस भावभूमि पर जहाँ 'स्व-पर' की द्वैतमयी सत्ता ही नहीं है, अहंमयी व्यक्तित्व-चेतना का अस्तित्व ही नहीं है, वहाँ अहिंसा अपनी

पूर्णता में स्वयं-स्थित है। वह परम ज्ञान की भूमिका है जहाँ सारे प्रतिमान बदल गये हैं। उससे पूर्व की स्थिति अज्ञान की है, प्रमाद की है। किन्तु वहाँ भी अपने और दूसरों के मध्य स्तर-वैभिन्न्य नहीं है। महावीर जैसा अपने लिए प्रतीत करते हैं, वैसा ही दूसरे के लिए भी कर रहे हैं, अतः भावना के स्तर पर वहाँ भी करुणा की ही सत्ता है, लेकिन अहंबोध से लिप्त होने के कारण वह प्रेम नहीं मोह बनती है, संवर नहीं, आस्रव बन जाती है।

वीतरागता या कर्तव्य-च्युति

लेकिन संसार-चेतना के स्तर पर जीते हुए अगर हम कैवल्य प्राप्त वीतराग महावीर का उदाहरण रखकर दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य से विमुख होते हैं तो वह वीतरागता की नहीं पाषाण-हृदयता की, ज्ञान की नहीं संकीर्ण स्वार्थ वृत्ति की, धर्म की नहीं पाप की भूमिका होती है। गगनचुम्बी अट्टालिका में सुख-साधनों के मध्य आसक्तिपूर्वक जीनेवाला देह का उपासक यदि किसी गरीब को भूख से तड़प-तड़पकर मरते देखकर महावीर की वीतरागता के सिद्धान्त का सहारा लेकर उसके प्रति पाषाण-हृदय होकर उसकी सहायता नहीं करता तो वह दानवीय क्रूरता का भाव-बन्ध कर रहा होता है, धर्म की साधना नहीं। अपने लिए सम्पूर्ण राग को अंगीकार कर दूसरों के साथ व्यवहार में वीतरागता के नाम पर हृदयहीन उपेक्षा धारण करनेवाला व्यक्ति भगवान् के मार्ग से प्रति-पल बहुत दूर जा रहा होता है, चाहे वह इसे स्वीकार करे या नहीं। अन्तर्भावना और बाह्य कर्म के मध्य जहाँ भी विपरीतता आती है, पाप ही निष्पन्न होता है। बचाना या मारना अपने आपमें हिंसा या अहिंसा कुछ भी नहीं कहे जा सकते। शरीर की किसी भी क्रिया को पाप या पुण्य से नहीं जोड़ा जा सकता। अन्त-र्वृत्तियाँ ही निर्णायक होती हैं उसका जो हमें भीतर से बाँधता या मुक्त करता है। जहाँ भी अन्तर्वृत्तियों में अपने और दूसरों के मध्य विषमता स्थित है, पाप की सत्ता ही वहाँ पल रही होती है और जहाँ वह नहीं है, पाप की सत्ता नहीं हो सकती। पाप और पुण्य दोनों ही चेतना के बन्धन हैं। लेकिन दोनों में एक अन्तर है और वह यह कि पुण्य से पाप को, शुभ से अशुभ को क्षीण किया जा सकता है और अन्ततः शुभ को भी छोड़कर गुणातीत, भावातीत स्थिति में प्रवेश किया जाता है। अगर अन्तर्भावना हमारे कर्म की प्रेरणा नहीं है तो उस कर्म का

एक जीवन-सत्ता से हमारा तादात्म्य जहाँ भी टूटता है, व्यक्तित्व-बोध के रूप में जहाँ भी हमारा 'स्व' शेष-सम्पूर्ण से पृथक् होता है, चेतना का जहाँ भी 'अपने' और 'दूसरे' में विखण्डन होता है, हिंसा वहीं भीतर ही भीतर हो चुकती है। कर्म तो उससे जुड़कर उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र बनता है। जिसके अभाव में उसकी सत्ता मिट नहीं जाती। खलील जिब्रान कहता है—कितने ही ऐसे झूठे हैं जिन्होंने कभी एक भी झूठ नहीं बोला, कितने ही ऐसे हत्यारे हैं जिन्होंने किसी के ऊपर शस्त्र तक नहीं उठाया और कितने ऐसे व्यभिचारी हैं जिन्होंने किसी स्त्री को छुआ तक नहीं। बाहरी घटनाओं के आधार पर हिंसा-अहिंसा की मान-रेखा खींचना असम्भव है।

o

धर्म अनादि-अनन्त होता है

☐

हर धार्मिक परम्परा का दावा है कि वह कालातीत है, अनादि-अनन्त है। वैदिक परम्परा अपने लिए सनातन धर्म की अभिधा प्रयुक्त करती है। बुद्ध ने भी धर्म को सनातन कहा है— 'एस धम्मो सनन्तणो।" अतः बौद्ध अपनी परम्परा को शाश्वत मानते हैं। महावीर का कहना है कि धर्म शाश्वत, ध्रुव और नित्य है— "एस धम्मे धुवे णिइए सासए", जिसके आधार पर जैन परम्परा का दावा है कि वह अनादि-अनन्त है।

अनादि नहीं होगी कोई परम्परा

हर परम्परा की आदि होती है। मानवीय परम्परा की आदि मानव के साथ जुड़ी है। आज धर्म के सन्दर्भ में परम्परा-बोध सामूहिकता का वाचक है, किसी व्यक्ति या व्यक्तियों से जुड़े आम्नाय का संसूचक है। व्यक्ति का कालातीत होना, व्यक्तियों का अनादि-अनन्त होना, किसी आम्नाय का सनातन होना, किसी पुस्तक का अपौरुषेय होना—ये सब असम्भव विरोधाभासमयी प्रकल्पनाएँ हैं। परम्परा कोई भी हो, अनादि अनन्त नहीं होती। आम्नाय कोई भी हो शाश्वत नहीं होती। जैन हो या बौद्ध, वैदिक हो या अवैदिक, आम्नाय कभी सनातन नहीं होती। लगता है, महावीर और बुद्ध, वेद और क़ुरान, आगम और त्रिपिटक को समझने में कहीं भूल रही है।

अनादि होता है धर्म

महावीर ने कहा है—किसी को न मारना, किसी को पीड़ित-प्रताड़ित न करना, किसी को परितापित—उद्विग्न न करना, किसी का शोषण नहीं करना—यह धर्म शाश्वत है। इसका सीधा-साधा अर्थ है कि यह बात सदैव धर्म है, अधर्म नहीं हो सकती। क्योंकि यह जीवन का मूलभूत यथार्थ है। महावीर इसे और स्पष्ट भी करते हैं। सारे प्राणी जीना चाहते हैं, मरना नहीं। सारे प्राणी सुख चाहते हैं दुःख नहीं। जिसे कोई भी अपने लिए नहीं चाहता उसे वह दूसरों के लिए कैसे चाह सकता है? जो हम अपने लिए चाहें वह दूसरों के लिए चाहें। जो अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी नहीं चाहें। जैसा व्यवहार

हमारे साथ दूसरे करें तो हमें दुःख होता हो, वैसा हम दूसरों के साथ न्यायतः नहीं कर सकते। यह सत्य है जीवन का। यह बात पहले भी सत्य थी, आज भी सत्य है, कल भी रहेगी। यह बात सबके लिए सत्य थी, सबके लिए आज भी सत्य है और भविष्य में भी सबके लिए सत्य होगी। यह निरपवाद नियम है जीवन का। इसका कोई अपवाद नहीं है। इसलिए महावीर कहते हैं, यह बात जीवन का निरपवाद नियम है, धर्म है, शाश्वत सत्य है, सदा अपरिवर्तनशील है, नित्य है। यहाँ महावीर एक आधारभूत बात कह रहे हैं और वह है—"णाइवाएज्ज कंचण"; किसी का अतिक्रमण मत करो। मैं किसी दूसरे का अतिक्रमण करता हूँ। दूसरा मेरा करेगा, तीसरा उसका, तो यह एक अन्तहीन परम्परा बन जायेगी। इससे कुल मिलाकर हम सब पीड़ित-प्रताड़ित, शोषित और दुःख-दलित हो जायेंगे। इसलिए महावीर कहते हैं कि किसी का अतिक्रमण नहीं करना, यह सदैव धर्म है। अहिंसा जीवन का शाश्वत, ध्रुव और नित्य धर्म है।

शाश्वत हैं जीवन के मूलभूत नियम

जीवन के मूलभूत नियम सदा रहते हैं, चाहे हमें उनकी जानकारी हो या न हो। न्यूटन द्वारा खोज निकालने के पूर्व भी गुरुत्वाकर्षण सदा था। पेड़ से टूटने पर सेब सदैव जमीन पर गिरते थे, आकाश में कभी नहीं जाते थे। आज भी नहीं जाते। भविष्य में भी कभी नहीं जायेंगे। गुरुत्वाकर्षण का नियम शाश्वत है। न्यूटन जो सत्य प्ररूपित कर रहा है वह सदा लागू रहा है। लेकिन न्यूटन शाश्वत नहीं है, उसकी किताब शाश्वत नहीं है, उसकी माननेवालों की कोई सामूहिक परम्परा होती, उसकी पूजा करनेवालों को कोई आम्नाय होती तो वह शाश्वत कैसे होती? सत्य शाश्वत है। वह कभी असत्य नहीं हो सकता। असत्य तो उसकी अभावात्मक स्थिति है, मात्र एक नकारात्मक शून्य है। सत्य कभी असत्य कैसे होगा? महावीर कहते हैं—न सो उप्पजए असं, सत् कभी असत् नहीं हो सकता और असत् कभी सत् नहीं हो सकता। अहिंसा शाश्वत है, वह कभी हिंसा नहीं हो सकती। धर्म शाश्वत है, वह कभी अधर्म नहीं हो सकता। अतः अहिंसा धर्म शाश्वत है, वह कभी अशाश्वत नहीं हो सकता। यह जीवन का मूलभूत सत्य है।

लेकिन अगर कोई यह मानकर चले तथा दूसरों को भी मनवाना चाहे कि महावीर नामक व्यक्ति, उससे पूर्व के चौबीस व्यक्ति, उनसे भी पूर्व के हजारों-लाखों व्यक्ति, उनके अनुयायीगण, उनकी कही हुई शब्दावली, उनको माननेवालों का समुदाय, उनके नाम पर खड़ी आम्नाय शाश्वत है और दूसरा कोई न शाश्वत है न उनकी बात धर्म हो सकती है तो यह बात तर्क और बुद्धि से एकदम असंगत

है। अगर कोई कहे कि जैन नामक एक समाज, एक सम्प्रदाय, उसको माननेवाले श्वेताम्बर-दिगम्बर साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका तीर्थ चतुष्टय और उसके पुस्तक-वस्त्र-पात्रादि शाश्वत हैं और शेष अन्य तीर्थिक अशाश्वत हैं, तो वह सत्य की आराधना नहीं, विराधना कर रहा होता है।

धर्म व्यक्तिगत, परम्परा सामूहिक

महावीर अहिंसा को शाश्वत कहते हैं। अहिंसा शाश्वत है, अर्थात् सदा धर्म ही है, कभी अधर्म नहीं। समता शाश्वत है, अर्थात् धर्म ही है, अधर्म कभी नहीं। लेकिन अहिंसा से 'जैन' या 'बौद्ध' या 'वैदिक'—इन अभिधाओं का क्या सम्बन्ध है? गीता की सर्वभूत मैत्री तथा महावीर के 'मित्ति मे सव्वभूएसु' में शब्दों के अलावा क्या अन्तर है? शब्द तो पैदा होते हैं, मिटते भी हैं। पुस्तकें बनती हैं, नष्ट भी होती हैं। समाजों का संगठन होता है, विघटन भी होता है। आम्नाय शुरू होते हैं, विलुप्त भी हो जाते हैं।

अहिंसा शाश्वत है, सिद्धान्त रूप में। उसे माननेवालों का समुदाय या आम्नाय, उनके रीति-रिवाज, उनके वाणी-व्यवहार की शैलियाँ, उनके तीर्थ और स्तूप शाश्वत नहीं होते। अगर ऐसा होता तो हर तीर्थंकर को 'आइगराणं'—आदि करनेवाला क्यों कहा जाता? हर तीर्थकर परम्परा-मुक्त होता है, आत्म-दीक्षित होता है, वह अपनी साधना से सत्य को जानता है और उसकी प्रज्ञापना, प्ररूपणा और व्याख्या करता है। वह प्रज्ञापना या प्ररूपणा शाश्वत नहीं है—शाश्वत है वह सत्य जिसे इसके माध्यम से मूर्त करने का प्रयास किया गया है।

परम्परा सामाजिक होती है। वह व्यक्तियों की होती है। उसका माध्यम वंशानुगतता है। वह पैतृक होती है। धर्म की कोई परम्परा नहीं होती। अहिंसा का न आदि है, न मध्य, न अन्त। वह या तो सम्पूर्णतः होती है, या नहीं ही होती। वहाँ काल का कोई अर्थ नहीं होता। व्यक्ति के भीतर ही होती है वह, बाहर नहीं होती। व्यक्तिगत ही होती है वह, सामाजिक नहीं होती। उसके परिणाम सामाजिक होते हैं। समाज पर उसका असर पड़ता है। परम्परा उससे जुड़ भी सकती है लेकिन वह परम्परा से नहीं बँधती। अतः अनादि-अनन्त है अहिंसा-जीवन का परम सत्य, न कि जैन, बौद्ध या वैदिक, कोई भी आम्नायमूलक धार्मिक परम्पराएँ।

●

धर्म की परम्परा : परम्परा का अर्थ

□

महावीर किसी परम्परा से आवद्ध नहीं थे। उनसे पूर्व भी जैन परम्परा थी। दो सौ पचास वर्ष पूर्व तीर्थंकर पार्श्व हुए थे। महावीर के माता-पिता उसी परम्परा के थे। लेकिन महावीर ने उस परम्परा में दीक्षा नहीं ली। किसी परम्परा में नहीं ली। वे आत्मदीक्षित थे। उनकी साधना का कोई पूर्व निश्चित मार्ग नहीं था। साधना की प्रक्रिया से ही मार्ग निकला। प्रयोगों से ही प्रक्रियाएँ उभरीं।

धर्म का प्रतिष्ठान है शान्ति

महावीर ने अपने मार्ग से भी न स्वयं को जोड़ा, न किसी सामाजिक परम्परा को। धर्म की कोई परम्परा नहीं होती। परम्परा समाज की होती है, जैन परम्परा तब भी थी। वह चतुर्विध संघ की परम्परा थी। चार तीर्थों की परम्परा थी। महावीर की साधना-पद्धति में भी चतुर्विध संघ बना। लेकिन महावीर ने किसी संघ या समाज को अपने नाम से नहीं जोड़ा। कोई अभिधा नहीं दी। यह समता धर्म है, जो आर्यों द्वारा प्रवेदित है, यही उन्होंने बार-बार कहा—'समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइयं।' यह शाश्वत, ध्रुव और अविनश्वर धर्म है, इसी पर उन्होंने बल दिया—'एस धम्मे धुवे णिइए सासए।' उन्होंने कहा—जितने बुद्ध हुए हैं और होंगे सबका प्रतिष्ठान तो एक ही है और वह है शान्ति—जे य बुद्धा अइ कूकंता, जेय वुद्धा अणागया। संति तेंसि पईट्ठाणं भूयाणं जगई जहा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जितने अर्हत् हुए हैं, भगवत् हुए हैं, प्रबुद्धचेता और मतिमान हुए हैं, सबका यही उपदेश है, यही प्ररूपणा है, यही कथन है, यही प्रज्ञापना है—जे य अईया जे य पडुप्पा। जे य आगमिस्सा अरहन्ता भागवन्तो, सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं पन्नवेन्ति, एवं भासंति, एवं परूवेन्ति।

महावीर कहीं नहीं हैं प्रतिपक्ष में

कुछ मनीषी चिन्तक, पता नहीं क्यों, महावीर को ब्राह्मण परम्परा के प्रतिपक्ष में ही देखते आये हैं। वे सबल शब्दों में यह प्रमाणित करने का प्रयास करते रहे हैं कि महावीर का ब्राह्मणों से कोई लेन-देन नहीं था। लेकिन महावीर यहां भी उनके साथ नहीं हैं। वे कहते हैं—यह धर्म मतिमान ब्राह्मणों ने प्रवेदित

किया है—एस धम्मे पवेइयं माहणेण मईमया। उत्तराध्ययन में उन्होंने ब्राह्मण के सही लक्षणों पर व्यापक प्रकाश डाला है। बुद्ध ने भी धम्मपद में प्राचीन संयम साधक ब्राह्मणों के जीवन पर प्रकाश डालते हुए ब्राह्मण के सही लक्षण प्ररूपित किये हैं। उन्होंने प्राचीन काल के ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुए वर्तमान कालीन ब्राह्मणों को उनके मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी है। महावीर ने भी कहा है कि ब्राह्मण का लक्षण है संयम—बंभचेरेण बंभणो। श्रमण, ब्राह्मण, तापस और मुनि, कोई भी उनकी दृष्टि में पार्थक्य की भावना नहीं है। यह भावना वर्ग-चेतना की उपज है और वर्ग-चेतना हर समाज में होती है चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक, आर्थिक हो या व्यापारिक। धर्म में वर्ग-चेतना नहीं होती। उसमें कहीं टकराव नहीं होता, किसी का इनकार नहीं होता। महावीर की भूमिका में श्रमण-ब्राह्मण विरोध कहीं नहीं है। उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक प्रक्रिया की व्याख्या उत्तराध्ययन में हरिकेशबल के प्रकरण में दी—तप ज्योति है, जीव वेदी है, कर्म समिधा है, संयम शान्ति-पाठ है, आदि-आदि। उन्होंने तीर्थ-स्नान की भी आत्मपरक व्याख्या दी—शील-संयम की सतत साधना के रूप में। इन्द्रभूति गौतम के मन में किसी वैदिक विषय को लेकर ही सन्देह था जिसका उन्होंने उन्हीं आधारों पर निरसन किया। महावीर की भूमिका पर स्थित होकर देखें तो वर्तमान वर्गवादी दृष्टि संकीर्ण ही नहीं, धर्म की शाश्वत चेतना के प्रतिरूप भी अनुभव होगी। सामाजिक संगठनों का टकराव धर्म को भी परम्पराओं की ज़ंजीरों में जकड़कर साम्प्रदायिक अभिनिवेशों का शिकार बना देता है। परिणामतः वैदिक परम्परा हाथी के द्वारा प्रताड़ित होने पर भी जैन मन्दिर में प्रवेश न करने की व्यवस्था देती है, जो वर्गघृणा के विष से भरी है, तो जैन परम्परा में ठूँस-ठूँसकर यह बात भर दी गयी कि वैदिक परम्परा हिंसक आर्यों की पशुयज्ञमयी मांसभक्षी जीवघाती बर्बर परम्परा ही रही है। महावीर ने आर्य शब्द का बहुत प्रयोग किया है—समुट्ठिए अणगारे आरिए, आरियपन्ने आरियदंसी-समुत्थित अनगार, आर्य, आर्य-प्रज्ञ, आर्य-दर्शी। बुद्ध ने अपने मार्ग की आधारभूत चार बातों को आर्यसत्य कहा है। आर्य शब्द किसी जाति या वर्ग का वाचक नहीं था। उसका अर्थ था—श्रेष्ठ और सुजन।

विकृति के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं

यह निश्चित है कि महावीर के समय में लोक-जीवन वर्ग-व्यवस्था, क्रूर पशु-यज्ञों, कर्मकाण्डों, आडम्बरों, जातीय उन्माद और दास-प्रथा से पीड़ित था। उसका दोष वेदों, उपनिषदों अथवा ब्रह्मसूत्रों को तो कदापि नहीं दिया जा सकता जैसे आज व्यापारिक समाज की कालाबाज़ारी, तस्कर व्यापार, जमाखोरी आदि

अनैतिकताओं का दोष महावीर, बुद्ध आदि को नहीं दिया जा सकता। सही सन्दर्भो एवं व्याख्याओं के अभाव में मिथ्या अभिनिवेश खड़े होते रहे, एक पर एक लदते रहे और उनके प्रतिकार में मानव की प्रबुद्ध चेतना विद्रोह करती गयी। ऋग्वेद के सृष्टि-सूक्त तथा कस्मै देवाय: सूक्त से लेकर ब्रह्मसूत्र तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रहा है, मानवीय आत्मा की दिव्यता, प्राणीमात्र में व्यापक आत्मसत्ता, रागमूलक बन्धन, समत्व की साधना की प्रेरणा, पवित्रता की गरिमा, अहिंसा और संयम का मार्ग। कर्मकाण्ड की परम्परा उसके समानान्तर अलग चलती रही। वह भी नितान्त अर्थहीन नहीं थी, लेकिन कालान्तर में हो गयी। यज्ञों की हिंसा के प्रति विद्रोह का स्वर, उनकी कर्मयोगपरक व्याख्या गीता में भी मिलती है। 'हाथी और कुत्ते, ब्राह्मण और चाण्डाल सबमें उसी एक आत्मन् को देखने' की प्रेरणा वहाँ भी है। मूल सन्देश का जहाँ तक प्रश्न है, कहीं विभेद नहीं है। एक-एक ग्रन्थ के एक-एक श्लोक का शवच्छेदन किया जाये तो हजारों भेदपरक बातें मिल जायेंगी। ऐसी बेसिर-पैर की बातें भी हर परम्परा में मिलती हैं। कोई भी परम्परा उनसे मुक्त नहीं है। स्वयं महावीर के नाम पर परवर्ती ग्रन्थों में जो कहा गया है वह बुद्धि, तर्क और वैज्ञानिक दृष्टि के एकदम प्रतिकूल है। उससे महावीर को जोड़ना गम्भीर भूल होगी।

धर्म की परम्परा, परम्परा का धर्म

संसार के सारे धर्मों का मूल सन्देश यही है कि आत्मा की सत्ता अभौतिक एवं निर्विशेष है, वह सब जीवों में विद्यमान है, द्रव्यतः एक है, भावतः अनेक है। अनेकता में एकता का दर्शन सहजतः अहिंसा और संयम में निष्पन्न होता है जिसकी साधना से हम देहात्मबोध से मुक्त होकर परम शान्ति और मुक्ति पाते हैं। भाषागत भेद अनेक हैं। वे देश-काल-सापेक्ष हैं। सामाजिक परम्पराएँ सदैव रही हैं। उनका धर्म की चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म के धरातल पर जैन, बौद्ध, ईसाई, वैदिक और मुसलमान जैसा कुछ नहीं है। गुणेसु साहु अगुणेसु असाहु—महावीर का मन्तव्य है कि गुण से साधु होते हैं, अवगुण से असाधु होते हैं। साधु सारे लोक के वन्दनीय हैं—णमो लोए सव्वसाहूणं। असाधु कहीं भी वन्दनीय नहीं है। महावीर और बुद्ध ने साधुओं के जो लक्षण बताये हैं, वे महाभारत में भी मिलते हैं। महावीर ने जो कहा है वह बुद्ध, ईसामसीह, मुहम्मद, कनफ्युशियस, लाओत्जे में भी पाया जा सकता है। यह मूलभूत सत्य है कि धर्म की कोई परम्परा नहीं होती, परम्परा का कोई धर्म नहीं होता।

o

संन्यास यानी सम्यक् न्यास

□

'न्यास' शब्द अँगरेजी के 'ट्रस्ट' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। ट्रस्ट सम्पत्ति का होता है। उससे संचालित प्रवृत्तियाँ ट्रस्ट के अन्तर्गत आती हैं। ट्रस्टी उनको सँभालता है, संचालित करता है, सम्पूर्ण अधिकार के साथ नियोजित करता है लेकिन अपने को उसका स्वामी नहीं मानता। ट्रस्ट समाज का है, समाज के लिए है। वह अधिकाधिक समाज के लिए अच्छा कार्य कर सके, इसी में उसके अस्तित्व की सार्थकता है। ट्रस्टी का कर्तव्य है कि वह इस दृष्टि से सदैव जागरूक एवं प्रयत्नशील रहे। उसके अभाव में ट्रस्ट की सत्ता नहीं रहती। अगर वह ट्रस्ट को छोड़कर चला जाता है तो ट्रस्ट मिट जाता है। अगर वह उसपर स्वामित्व स्थापित कर डालता है तो भी ट्रस्ट मिट जाता है। ट्रस्ट तभी रहता है जबकि उसपर न स्वामित्व का आरोपण हो, न उससे पलायन हो। उसमें रहते हुए, उसका सुचारु संचालन करते हुए, उसके प्रति स्वामित्वशून्य भावना सतत रखना, यही ट्रस्टी के लिए अपेक्षित होता है। ट्रस्ट एक सामाजिक न्यास है तथा ट्रस्टी उसका न्यासी। वह न्यासी सम्यक् होना चाहिए। अगर वह ट्रस्ट की सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित कर लेता है तो सम्यक् नहीं है। अगर वह उसे छोड़कर चला जाता है अथवा रहकर भी उसकी उपेक्षा करता है तब भी वह सम्यक् न्यासी नहीं है। सम्यक् न्यासी न आसक्त होता है न उदासीन, न उसे जकड़ना चाहता है न छोड़कर चले जाना, न पाना चाहता है न त्यागना। वही सम्यक् न्यासी है जो स्वामित्वमुक्त भावना तथा आचारपूर्वक न्यास का संचालन इसी दृष्टि से करता है कि वह अपने लक्ष्य की अधिकतम सम्भव सम्पूर्ति करता रहे।

संन्यास यानी सम्यक् न्यास

संन्यास का अर्थ है—वह जो सम्यक् न्यास है। वह न अपना है, न दूसरे का, सबका है। जो सबका है वह किसी एक का नहीं हो सकता। जो किसी एक का होता है, सबका नहीं हो सकता। जिस पर किसी का भी स्वामित्व है, वह सबके स्वामित्व से बाधित है। जिस पर किसी का भी एकाधिकार है वह सबके समान अधिकार से वंचित है। यही संन्यास की भूमिका है। इसमें अधि-

कार के लिए कोई स्थान नहीं है। पलायन के लिए भी कोई स्थान नहीं। यह समर्पण की भूमिका है। इस समर्पण में ही सन्निहित है, कार्यकारी अधिकार की सत्ता और क्रियान्विति में अन्तर्रुचि। यह समर्पण समत्व की भूमिका पर ही सम्भव है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को तथा सम्पूर्ण समष्टि में सर्वत्र अपने को देखता हो, जहाँ उसकी चेतना अहं की कारा से मुक्त हो चुकी हो, अपने अस्तित्व का सही सन्दर्भ पाकर उससे जुड़ चुकी हो।

स्वामित्व की भावना का स्रोत अहं है। अहं अभिव्यक्ति है अपनी अपूर्णता की। अपूर्णता की अनुभूति अन्तर्भावना के स्तर पर हीनता बनती है और यह हीनता बाहरी अभिव्यक्ति के स्तर पर अहंकार बनकर प्रकट होती है। यह अपूर्णता इसीलिए है कि हमारी आत्मचेतना देह के रक्त-मांसमय घेरों में आबद्ध है जो अशाश्वत और निरन्तर क्षीयमाण, अपूर्ण एवं एकांगी है। इसी से जन्म होता है सारी मानसिक कुण्ठाओं का। इस अहं के गह्वर को व्यक्ति जितना स्वामित्व से भरने का प्रयास करता है उतना ही वह विस्तीर्ण होता चला जाता है।

स्वामित्व दासता का प्रतिरूप

यहाँ स्थिति उलटी है क्योंकि भूमिका त्याग की नहीं, ग्रहण की है; विसर्जन की नहीं अर्जन की है; प्रेम की नहीं, स्वार्थ की है। संन्यासी स्वामी है क्योंकि वह सबको अपने लिए छोड़ चुका है लेकिन अपने को सबके लिए अर्पित कर चुका है। उसकी जिन्दगी स्वयं अपने आपमें सन्निहित है, दूसरों में नहीं। वह अपने आप पर ही अवलम्बित है, दूसरों पर नहीं। इसीलिए वह सबसे ऊपर है, सबके लिए पूजनीय है और भारतीय परम्परा इसीलिए उसे स्वामी अभिधा से मण्डित करती है।

अन्तर होता है अन्त:स्थिति का

आदमी जीवन के लिए खाता-पीता, सोता-उठता, पहनता-ओढ़ता है। यह चर्या जीवन के अस्तित्व से जुड़ी होने के कारण मानव-मात्र के लिए ही नहीं अपितु जीवमात्र के लिए अनिवार्य है। एक गृहस्थ या साधु में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। गृहस्थ खाना खाता है, साधु भी खाता है। गृहस्थ कहीं रहता है, साधु भी रहता ही है। गृहस्थ कुछ पहनता है, साधु भी पहनता है। गृहस्थ के उसी मकान में रहकर, वही खाना खाकर और वस्त्र पहनकर भी साधु तो साधु ही रहता है, गृहस्थ गृहस्थ ही। ऐसा क्यों? दोनों में अन्तर क्या है? स्थूल जीवन-चर्या के स्तर पर कोई अन्तर नहीं है। अन्त:स्थिति में ही अन्तर मिलता है और वह है मन की परिणतियों का, भावनाओं का, संवेदनाओं का, अनुभूतियों का। साधु खाना खाकर भी उसका स्वामी नहीं है, कपड़ा पहनकर भी उसका स्वामी नहीं है, मकान में रहकर भी उसका स्वामी नहीं है। भीतर से वह इनसे ममत्व-बोध द्वारा नहीं जुड़ा है। वह जो भीतर है वही निर्णायक है बाहर की हर क्रिया-प्रतिक्रिया का।

स्वामी रामतीर्थ ने अपने संस्मरणों में एक अजीब-सी किन्तु दैनिक जीवन-चर्या की कसौटी पर शत-प्रतिशत सत्य उतरनेवाली घटना का उल्लेख किया है। वे बाज़ार में घूम रहे थे। अचानक उन्होंने सामने से एक व्यक्ति को छाती पीटकर रोते हुए आता देखा। उसे चारों ओर से भीड़ घेरे थी। किन्तु वह सब कुछ भूलकर दहाड़े मार-मारकर रो रहा था, छाती पीट रहा था। पता चला कि उस व्यक्ति ने करोड़ों रुपये लगाकर एक विशाल अट्टालिका का निर्माण करवाया था, उसमें सहसा आग लग गयी है। 'फ़ायर-ब्रिगेड' भी उस आग को बुझाने में सफल नहीं हो पा रही थी। वह जिन्दा ही मर गया, लुट गया, यह वह बार-बार कह रहा था और निरन्तर रोये जा रहा था। तभी उसका बड़ा बेटा आया और बोला—यह मकान तो हम अमुक व्यक्ति को बेच चुके हैं। इस बात ने बिजली का-सा असर किया। वह व्यक्ति सहसा ठहाके मारकर हँस

उसके चरणों पर अपना सिर रखें। वह लोकैषणा से पीड़ित है, उसकी सम्पूर्ति के लिए धन का पुजारी भी बन चुका है। वह सारे संसार को धोखा दे सकता है, किन्तु अपने आपको नहीं दे सकता। अन्तःकरण की गहराइयों में कहीं वह जानता है कि वह साधु नहीं है, प्रच्छन्न गृहस्थ है, संन्यासी नहीं है, सांसारिक है। भीतर सांसारिकता हो तो बाहर के देह-पीड़क आचार-पालन से क्या मिलनेवाला है? भीतर संन्यास हो तो देह, मन के लिए पीड़ाजनक इन क्रियाओं की अर्थवत्ता ही क्या है? संन्यास किसी वस्तु का छोड़ना मात्र नहीं है। जब मन में कामना हो फिर भी उस वस्तु को ग्रहण न किया जाये, कभी-कभी आगे भी त्याग कह देते नैतिकता के स्तर पर उस त्याग की उपादेयता हो सकती है। क्योंकि यह सामाजिक विकास का सूत्र है कि व्यक्ति उसे अधिकतम दे, उससे न्यूनतम ग्रहण करे, ताकि सबको आवश्यकतानुसार मिल सके, उससे अधिक भी मिल सके। धर्म के स्तर पर उस त्याग का कोई बहुत अर्थ नहीं है। अगर अन्तर्मन में कामना शेष है तो उसके विषय—'आब्जेक्ट' का त्याग दमन में परिणत होगा जिससे कुण्ठाएँ निष्पन्न होंगी और व्यक्तित्व दो टुकड़ों में बँट जायेगा। दोनों टुकड़े भीतर-बाहर द्वैध जीवन जीयेंगे जिसका अर्थ है—व्यक्तित्व की एक संगठित सत्ता का विघटन। मनोविज्ञान की शब्दावली में यह व्यक्तित्व-भ्रंस 'सिजोफ्रेनिया' में परिणत होता है जो मानसिक-आत्मिक स्तर पर व्यक्ति की समाज के लिए आत्महत्या ही है।

राग का विलोम है विराग

सोवियत मनोवैज्ञानिक पाव्लोव ने एक विचित्र प्रयोग नर्सरी स्कूल के बच्चों पर किया। उसमें एक उद्यान था जो चटकीले लाल रंग के फूलों की लताओं से परिव्याप्त था। फूलों के बीच लाल रंग के ही अनेक प्रकार के सुन्दर खिलौने भी सजे रहते थे। बच्चों को उद्यान में छोड़ दिया जाता। बच्चे फूलों की ओर लपकते, उन्हें छूते, सूँघते, खिलौने को उठाते और रखते। उस वातावरण में रहकर उन्हें फूलों और खिलौनों के प्रति विशेष रुचि हुई। चटकीला लाल रंग उनको बहुत अच्छा लगता था। पाव्लोव ने उन फूलों और खिलौनों को बिजली के तारों से जोड़ लिया जिससे उन्हें छूते ही एक हलका विद्युदाघात लगता और एक आतंकमय तीव्र ध्वनि से सारा उद्यान गूँज उठता। धीरे-धीरे बच्चे उन फूलों और खिलौनों के स्पर्श से डरने लगे। लाल रंग की किसी वस्तु को देखकर भी वे भयभीत होकर काँपने लगते। उस प्रकार के संगीत को सुनकर भी वे भयाकुल हो जाते। वह जो राग था, विराग बन गया। वह जो अनुराग था, विरक्ति बन गया। मन के भीतर उन फूलों की, खिलौनों की, लाल रंग की

और उस आतंकप्रद संगीत की धुनें स्थिर हो गयीं। पहले जो रति की विषय थीं, विरति की बन गयीं। लेकिन मन उनकी सत्ता में मूच्छित तो ज्यों का त्यों ही रहा। राग मन की एक प्रकार की मूर्च्छा है, विराग दूसरे प्रकार की। जागरण तो दोनों से ऊपर की स्थिति है।

हमारी वस्तु-केन्द्रित मूच्छित मानसिकता त्याग और भोग के पार नहीं जा पाती। जबकि ये दोनों मन के बन्धन हैं। संन्यास त्याग नहीं है। बहुत बार लोग कहते हैं कि महावीर ने घर-बार छोड़ दिया। महावीर कहते हैं कि घर छोड़ने की चीज़ नहीं, पाने की है। घर को तो पाना है, वहीं तो जाना है। आचारांग में ही उन्होंने कहा कि अनन्त काल से जीव इस विराट् लोक में भटक रहा है, घर की खोज में। एक परमाणु भी ऐसा नहीं, बिन्दु-भर स्थान भी ऐसा नहीं, जहाँ यह घर की खोज में असंख्य बार नहीं गया हो। लेकिन इसे कहीं घर नहीं मिला। कहीं मिल भी नहीं सकता। बाहर कहीं नहीं है वह। है तो वह भीतर ही है। वह जो घर नहीं है उसको पकड़ना क्या ? छोड़ना क्या ? महावीर ने घर कहाँ छोड़ा ? वे तो घर जा रहे थे। जो घर नहीं था, फिर भी घर प्रतीत होता था मात्र एक छलना था और वह छूटती नहीं, टूटती है। महावीर के लिए जबतक वह घर था, तबतक छोड़ने का प्रश्न ही नहीं था। जब भ्रम टूट गया, घर कहीं रहा ही नहीं तो वे घर की खोज में चल पड़े। हम भ्रम में जी रहे हैं। अतः हमें लगता है वे घर छोड़कर बाहर चले गये। महावीर भ्रम को जान गये थे। भ्रम को उसके वास्तविक रूप में जान लेना स्वतः ही उसके पार जाना है। जबतक भ्रम नहीं टूटता तबतक कुछ छूटता नहीं। स्वतः छूटे बिना प्रयासपूर्वक छोड़ना क्या माने रखता है ? हम प्रायः छोड़ने की बात करते हैं। सवाल उठता है—क्यों ? हमें इसे छोड़कर जाना कहा है ? अगर कहीं जाना नहीं है तो यह कैसे छूटेगा ? महावीर को घर दूर से दिखाई दे रहा था, अतः वे उस दिशा में चल पड़े। हमें घर के रूप में दिखाई वही दे रहा है जो घर है ही नहीं। तथा क्या छोड़ना है और क्यों ? अन्तःपरिवर्तन से जिसे हम संयम कहते हैं, स्वतः निष्पन्न होता है। उसके अभाव में संयम का कवच ओढ़कर हम जीवन का आन्तरिकरण कैसे जीत पायेंगे ? हम महावीर की तरह खा-पी सकते हैं, उठ-बैठ सकते हैं, चल-फिर सकते हैं, लेकिन भीतर से अगर हम वह नहीं बन पाये हैं तो उससे क्या बननेवाला है ?

●

प्रव्रज्या है अन्तर्यात्रा का प्रारम्भ

□

फतेहपुर सीकरी की मसजिद के शीर्षद्वार पर सम्राट् अकबर ने एक वाक्य खुदवाया था—"पैग़म्बर यीशु ख्रीस्त ने कहा—खुदा उनकी रूह को सलामत रखे, कि यह संसार एक पुल है, इसे पार कर जाओ, इसपर घर मत बनाओ।" यह बात जीवन के लक्ष्य की संसूचक है। संसार इसलिए नहीं कि इसे भोगा जाये, बल्कि इसीलिए है कि इसे पार कर लिया जाये। जीवन एक यात्रा है, इसके मध्य कहीं ठहराव नहीं है। संसार एक पथ है, इसपर कहीं घर नहीं बनाया जा सकता। भगवान् महावीर ने कहा—"जो मार्ग में ही घर बनाने का प्रयास करते हैं, यहाँ जड़ीभूत हो जाते हैं।" इसलिए भगवान् ने बार-बार चलने की प्रेरणा दी है। 'एवं पेगे महावीरा परक्क मेज्जासि'—यों महावीर करते हैं पराक्रम। पराक्रम शब्द आज पौरुष या प्रयास का वाचक है। मूल में पराक्रम है चलना, आगे बढ़ते जाना। परिक्रमा तथा पराक्रम दोनों की धातु एक ही है। 'क्रमण' अर्थात् आगे बढ़ना, सतत चलते जाना। महावीर चलते जाते हैं, इसी में उनका वीरत्व निहित है। कायर ठहर जाते हैं, यही उनकी कायरता है।

बहुत दिन पूर्व अमरीकी कवि राबर्ट फ़्रास्ट की एक कविता पढ़ी थी। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू को यह कविता बहुत पसन्द थी। वे इसे अपनी मेज़ पर पारदर्शक शीशे के नीचे रखते थे, समय-समय पर पढ़कर प्रेरणा संचित करते थे। कविता एक यात्री के बारे में है। यात्री बहुत दूर से चला आ रहा है। वह थककर चूर-चूर हो गया है। सूर्यास्त हो गया है। पक्षी अपने नीड़ों में विश्राम कर रहे हैं। जंगल बड़ा मनमोहक है। स्थान-स्थान पर लता-कुंज विश्राम का आह्वान कर रहे हैं। सारा वातावरण उसे रुककर वहीं विश्राम लेने को जैसे पुकार रहा है। लेकिन यात्री कहता है कि मेरा घर मुझे पुकार रहा है, वहीं जाकर मैं विश्राम करूँगा। "आई हैव माइल्स टू गो बिफ़ोर आई स्लीप"—मुझे सोने से पूर्व मीलों का सफ़र तय करना है, करना ही है।

व्रज यानी चल पड़ना

जैन परम्परा में दीक्षा के लिए 'प्रव्रज्या' शब्द आता है। 'व्रज' धातु से इसका उद्गम हुआ है जिसका अर्थ है—चल पड़ना। प्रव्रज्या गति के प्रवर्ग को

और उस आतंकप्रद संगीत की धुनें स्थिर हो गयीं। पहले जो रति की विषय थीं, विरति की बन गयीं। लेकिन मन उनकी सत्ता में मूर्च्छित तो ज्यों का त्यों ही रहा। राग मन की एक प्रकार की मूर्च्छा है, विराग दूसरे प्रकार की। जागरण तो दोनों से ऊपर की स्थिति है।

हमारी वस्तु-केन्द्रित मूर्च्छित मानसिकता त्याग और भोग के पार नहीं जा पाती। जबकि ये दोनों मन के बन्धन हैं। संन्यास त्याग नहीं है। बहुत बार लोग कहते हैं कि महावीर ने घर-बार छोड़ दिया। महावीर कहते हैं कि घर छोड़ने की चीज़ नहीं, पाने की है। घर को तो पाना है, वहीं तो जाना है। आचारांग में ही उन्होंने कहा कि अनन्त काल से जीव इस विराट् लोक में भटक रहा है, घर की खोज में। एक परमाणु भी ऐसा नहीं, बिन्दु-भर स्थान भी ऐसा नहीं, जहाँ यह घर की खोज में असंख्य वार नहीं गया हो। लेकिन इसे कहीं घर नहीं मिला। कहीं मिल भी नहीं सकता। बाहर कहीं नहीं है वह। है तो वह भीतर ही है। वह जो घर नहीं है उसको पकड़ना क्या ? छोड़ना क्या ? महावीर ने घर कहाँ छोड़ा ? वे तो घर जा रहे थे। जो घर नहीं था, फिर भी घर प्रतीत होता था मात्र एक छलना था और वह छूटती नहीं, टूटती है। महावीर के लिए जबतक वह घर था, तबतक छोड़ने का प्रश्न ही नहीं था। जब भ्रम टूट गया, घर कहीं रहा ही नहीं तो वे घर की खोज में चल पड़े। हम भ्रम में जी रहे हैं। अतः हमें लगता है वे घर छोड़कर बाहर चले गये। महावीर भ्रम को जान गये थे। भ्रम को उसके वास्तविक रूप में जान लेना स्वतः ही उसके पार जाना है। जबतक भ्रम नहीं टूटता तबतक कुछ छूटता नहीं। स्वतः छूटे बिना प्रयासपूर्वक छोड़ना क्या माने रखता है ? हम प्रायः छोड़ने की बात करते हैं। सवाल उठता है—क्यों ? हमें इसे छोड़कर जाना कहा है ? अगर कहीं जाना नहीं है तो यह कैसे छूटेगा ? महावीर को घर दूर से दिखाई दे रहा था, अतः वे उस दिशा में चल पड़े। हमें घर के रूप में दिखाई वही दे रहा है जो घर है ही नहीं। तथा क्या छोड़ना है और क्यों ? अन्तःपरिवर्तन से जिसे हम संयम कहते हैं, स्वतः निष्पन्न होता है। उसके अभाव में संयम का कवच ओढ़कर हम जीवन का आन्तरिकरण कैसे जीत पायेंगे ? हम महावीर की तरह खा-पी सकते हैं, उठ-बैठ सकते हैं, चल-फिर सकते हैं, लेकिन भीतर से अगर हम वह नहीं बन पाये हैं तो उससे क्या बननेवाला है ?

प्रव्रज्या है अन्तर्यात्रा का प्रारम्भ

□

फतेहपुर सीकरी की मसजिद के शीर्षद्वार पर सम्राट् अकबर ने एक वाक्य खुदवाया था—"पैग़म्बर यीशु ख़ीस्त ने कहा—खुदा उनकी रूह को सलामत रखे, कि यह संसार एक पुल है, इसे पार कर जाओ, इसपर घर मत बनाओ।" यह बात जीवन के लक्ष्य की संसूचक है। संसार इसलिए नहीं कि इसे भोगा जाये, बल्कि इसीलिए है कि इसे पार कर लिया जाये। जीवन एक यात्रा है, इसके मध्य कहीं ठहराव नहीं है। संसार एक पथ है, इसपर कहीं घर नहीं बनाया जा सकता। भगवान् महावीर ने कहा—"जो मार्ग में ही घर बनाने का प्रयास करते हैं, वहाँ जड़ीभूत हो जाते हैं।" इसलिए भगवान् ने बार-बार चलने की प्रेरणा दी है। 'एवं पेगे महावीरा परक्कमेज्जासि'—यों महावीर करते हैं पराक्रम। पराक्रम शब्द आज पौरुष या प्रयास का वाचक है। मूल में पराक्रम है चलना, आगे बढ़ते जाना। परिक्रमा तथा पराक्रम दोनों की धातु एक ही है। 'क्रमण' अर्थात् आगे बढ़ना, सतत चलते जाना। महावीर चलते जाते हैं, इसी में उनका वीरत्व निहित है। कायर ठहर जाते हैं, यही उनकी कायरता है।

बहुत दिन पूर्व अमरीकी कवि रॉबर्ट फ़्रास्ट की एक कविता पढ़ी थी। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू को यह कविता बहुत पसन्द थी। वे इसे अपनी मेज़ पर पारदर्शक शीशे के नीचे रखते थे, समय-समय पर पढ़कर प्रेरणा संचित करते थे। कविता एक यात्री के बारे में है। यात्री बहुत दूर से चला आ रहा है। वह थककर चूर-चूर हो गया है। सूर्यास्त हो गया है। पक्षी अपने नीड़ों में विश्राम कर रहे हैं। जंगल बड़ा मनमोहक है। स्थान-स्थान पर लता-कुंज विश्राम का आह्वान कर रहे हैं। सारा वातावरण उसे रुककर वहीं विश्राम लेने को जैसे पुकार रहा है। लेकिन यात्री कहता है कि मेरा घर मुझे पुकार रहा है, वहीं जाकर मैं विश्राम करूँगा। "आई हैव माइल्स टू गो बिफ़ोर आई स्लीप"—मुझे सोने से पूर्व मीलों का सफ़र तय करना है, करना ही है।

व्रज यानी चल पड़ना

अभिव्यक्त करता है। सूक्ष्म स्तर पर यह सतत अप्रमत्त साधना का संसूचक है। गीता में भी 'व्रज' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज'—सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण की ओर चल पड़ो। चलना एक यात्रा है। शरण पाना या देना नहीं है। मेरी शरण का अर्थ यहाँ किसी व्यक्ति की शरण नहीं है, उस लक्ष्य के प्रति समर्पण है जो इस यात्रा का अन्तिम पड़ाव है। शरण यहाँ आश्रय लेना नहीं, समर्पित होना है; कुछ पकड़ना नहीं, जो पकड़ा हुआ है वह भी छोड़ देना है और आगे चल देना है। कृष्ण का 'मैं' तथा महावीर का 'तू' यहाँ एक ही सत्ता के सूचक हैं। महावीर ने भी इस व्यापक चेतना के स्तर पर 'मैं' शब्द का प्रयोग किया है। 'आणाए मामगं धम्मं'—मेरी आज्ञा धर्म है। यह 'मेरी आज्ञा' किसी व्यक्ति की नहीं है। आज्ञा यहाँ अनुशासन है, आदेश नहीं, लक्ष्य के प्रति समर्पण है, आग्रह का अनुमोदन नहीं। वह 'मैं' निर्वैयक्तिक चेतना है जो इसमें से प्रत्येक की आत्मसत्ता है, अपनी शुद्ध-बुद्ध संस्थिति में। प्रव्रजन या प्रव्रज्या एक यात्रा है, जीवन से उसके पार, संसार से उसके पार, सुख-दुःखात्मक प्रतीतियों, उनके प्रति राग-द्वेषमयी भावनाओं, उनके प्रति आसक्ति अथवा विचिकित्सा के पार अपने 'स्व' की ओर, अपनी मूल सत्ता की ओर, परिधि से केन्द्र की ओर। यह यात्रा बाहर की नहीं, भीतर की है, सम्पूर्ण चेतना का अन्तःरूपान्तरण है; परिवर्तन नहीं, समग्र क्रान्ति है, 'टोटल रिवोल्यूशन'। वस्त्र-परिवर्तन, आहार-विहार के परिवर्तन मात्र से इसका कोई सरोकार नहीं, यह तो चेतना का ही सम्पूर्ण परिवर्तन है। यह 'क्रान्ति' शब्द भी उसी धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ भी वही है—क्रमण अर्थात् पार कर जाना, किसी स्थिति की सीमा से आगे बढ़ जाना। तीव्र गति से लाँघ जाना वह जो अकाम्य है। प्रव्रज्या एक क्रान्ति है, अतिक्रमण है संसार का भीतर से, पार चले जाना है उसके। महावीर ने पारंगमा, तीरंगमा, ओघंतरा आदि शब्दों का प्रयोग किया है जो इसी के वाचक हैं। पारंगमा अर्थात् जो पार जा चुका है, तीरंगमा अर्थात् जो किनारे पहुँच चुका है, ओघंतरा अर्थात् जो इस सागर को पार कर चुका है।

परिधि में विश्रान्ति कहाँ ?

प्रव्रज्या त्याग नहीं, यात्रा है। त्याग है कुछ छोड़ देना। यात्रा है—बिना ठहरे आगे बढ़ जाना। वह जो रास्ते में है, अपने आप छूट जाता है पीछे, क्योंकि आगे बढ़ता जाता है यात्री। इसलिए, अध्यात्मपथ के यात्री के लिए 'परिव्राजक' शब्द आता है। परिव्राजक, अर्थात् वह जो चल पड़ा है, चलता जा रहा है अपने लक्ष्य की ओर। जो मार्ग में दोनों ओर है, उससे उसे प्रयोजन ही नहीं।

यह काम्य है या अकाम्य, उसे इसमें कोई मतलब नहीं। उसके लिए यह है ही नहीं। लोग कहते हैं, महावीर ने घर-बार, राज-पाट छोड़ा। किन्तु महावीर के लिए घर है ही कहाँ कि उसे छोड़ें? राज-पाट है ही कहाँ कि छोड़कर आयें? मैं तो पथिक हूँ जो घर की ओर आ रहा हूँ, घर छोड़कर नहीं। मैं कहता हूँ, सारे लोक में तिल मात्र भी स्थान नहीं है जहाँ कि मैं नहीं गया होऊँ किन्तु कहीं घर नहीं मिला, विश्राम नहीं मिला। बाहर घर कहाँ है? वह तो भीतर है। परिधि में विश्रान्ति कहाँ? वह तो केन्द्र में है। 'पर' में घर कहाँ? 'स्व' की यात्रा, बाहर से भीतर की यह प्रव्रज्या, भटकाव से निश्चित लक्ष्य की ओर यह प्रयाण एक महान् क्रान्ति है।

गत पाँच हजार वर्षों में विश्व में सैकड़ों क्रान्तियाँ हुई हैं किन्तु वे सफल नहीं हो पायीं मानवता को सुखी बनाने में। इसका कारण यही था कि वे खण्डित थीं, आंशिक थीं। जीवन का हर खण्ड समग्र के साथ इस प्रकार जुड़ा है कि उसे एकाकी परिवर्तित नहीं किया जा सकता। जीवन का उसके सारे स्तरों पर, उसकी समग्रता में, सम्पूर्ण रूपान्तरण ही वह क्रान्ति है जिसे भगवान् महावीर ने 'प्रव्रज्या' कहा है। मन, वाणी और कर्म की सारी प्रवृत्तियों का एकदम पलटाव, हमारे अस्तित्व के प्रत्येक अणु का 'पर' से 'स्व' की ओर मुड़ जाना, अँधेरे से उजाले की ओर उन्मुख होकर चल पड़ना ही परिव्रजन है, वही समाधान है जीवन की सारी समस्याओं का। एकान्तिक बाहरी स्तर पर कुछ छोड़ने या पकड़ रखने का कोई अर्थ नहीं है। एक व्यक्ति घर-बार छोड़ देता है, धन-धान्य छोड़ देता है, ग्राम-नगर छोड़ देता है, लेकिन वहीं ज्यों का त्यों खड़ा है, लक्ष्य से अनजान, पथ से अनजान, तो उसका कोई अर्थ नहीं है उसके लिए। स्वयं महावीर ने कहा है—कोई बाहर से दीक्षित हो जाता है लेकिन भीतर से चेतनाहीन है, प्रमत्त है, खा-पीकर सुख से सोता है, वह पाप-श्रमण है। उसके लिए बाह्य औपचारिकताओं के अलावा कहीं कुछ नहीं बदला। वह महीने में एक बार कुश के अग्रभाग पर ठहरे उतना अल्प-सा आहार करते हुए रह सकता है, लेकिन धर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं जानता। उससे क्या होनेवाला है? भगवान् ने साफ़-साफ़ कहा है—"चाहे कोई जटा रखे या सिर मुँड़ा ले, नग्न रहे या चीवर धारण कर ले, इनसे वह नहीं बच सकता जो भीतर से परिवर्तित नहीं हुआ है, ज्यों का त्यों रह गया है आस्रवों और कषायों में रचा-पचा।" महावीर नग्न थे कि सवस्त्र, उनका पथ अचेलत्व था कि सचेलत्व, इस-पर साम्प्रदायिक परम्पराएँ शताब्दियों से टकरा रही हैं। उनका मन्तव्य निर्विवाद है: "एते भो णगिणा वुत्ता जे लोयंसि अणागमण धम्मिणो"—वही है नग्न-अनावरण जिसने पीठ फेर ली है सारे लोक से और मुड़कर नहीं देखता उसकी

ओर, वस्त्र की तरह उतारकर फेंक दिया है बाह्य जीवन के प्रति होनेवाली सारी भावनाओं, प्रतीतियों, कामनाओं एवं आवेगों-संवेगों की ओर खड़ा हो गया है उनसे पीठ फेरकर, चल पड़ा है अपने गन्तव्य की ओर। प्रव्रज्या वस्तुतः यही तो है।

परम की ओर यात्रा

अमरीकी कवि एमरसन ने 'ब्रह्म' शीर्षक अपनी एक कविता में कहा है—"सप्तर्षियों का जो परम ज्योतिर्मय दिव्यलोक है उससे भी पीठ फेरकर जो खड़ा हो गया है उसके सम्मुख प्रकट होता है वह परम सत्य।" यह प्रव्रजित का यथार्थ चित्रण है। प्रव्रज्या परम की ओर अन्तर्यात्रा है जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है बाहर की घटनाएँ और तदुद्भूत रूपान्तरण, जिन्हें हम मौलिक सन्दर्भों में देखते हैं, जिनकी अपने भीतरी कारकों के अभाव में कोई सत्ता और अर्थवत्ता नहीं है। वह जो चल पड़ा है, निरन्तर चलता जा रहा है गन्तव्य की ओर, समर्पित है लक्ष्य के प्रति, पराङ्मुख हो चुका है शेष सबसे, जीवन के सारे स्तरों पर, अधिकारी है प्रव्रज्या को प्राप्त करने का और अन्ततः प्राप्त करेगा ही। दुनिया की कोई शक्ति उसे लक्ष्य-सिद्धि से नहीं रोक सकती।

ज्योति से ज्योति जले

□

"तुम्हीं अपने मित्र हो, शत्रु हो, दूसरा कोई नहीं है। तुम्हीं अपने कर्ता-विकर्ता हो, दूसरा कोई नहीं है। सब अपने त्राण हैं, शरण हैं। कोई किसी दूसरे के लिए त्राण नहीं है, शरण नहीं है। ऊपर, नीचे, दायें, बायें कर्म के अनन्त स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं जिनसे बाहर कहीं भागकर बचा नहीं जा सकता। जब तक तुम्हारी चेतना पर-रमण कर रही है, तुम्हारे लिए कहीं मोक्ष नहीं है। जब वह स्व-रमण करेगी, तुम्हारे लिए कहीं बन्धन की सत्ता ही नहीं रहेगी।...."

और विश्वचक्षु धर्म तीर्थंकर महावीर के स्पन्दित अधर सहसा निस्पन्द हो गये, देह निस्पन्द हो गयी। १६ प्रहर तक सतत प्रवहमान वाग्धारा अचानक रुक गयी। एक दिव्य ज्योति से उनका विग्रह ज्योतिर्मान हो उठा और कीर्तिकी अमावस्या की वह रात कल्मष के अगणित आवरणों को लेकर नर-किन्नर, देव-दानव, यक्ष-राक्षस, स्थावर-जंगम सारे प्राणियों पर जो प्रभु के अन्तिम समव-सरण में उपस्थित होकर दिव्य वाणी का अमृत-पान कर रहे थे, उतर आयी। प्रभु-निर्वाण को प्राप्त हुए। लिच्छवि महागण-संघ के सत्ताईस राजा तथा काशी-कौशल के सम्राट् अकल्पनीय पीड़ा से आहत, स्तब्ध, प्रस्तर प्रतिमावत् खड़े रहे। निस्तब्ध जल-थल में सर्वत्र तिमिर की असंख्य परतें अट्टहास कर उठीं। ज्योति चली गयी, रह गया डरावना अन्धकार, भीतर और बाहर, सर्वत्र।

महाकरुणा का अजस्र स्रोत

अभी इसी स्थल पर प्रभु की दिव्य वाणी उनके कानों में पीयूष प्रवाहित कर रही थी। इससे पूर्व न जाने कितनी बार यह वाणी उन्होंने सुनी थी। काशी, कौशल, वैशाली, पावा, चम्पा, राजगृह सब गत तीस वर्षों से एक ज्योति-र्मय विग्रह के आलोक से सतत सिंचित, चिन्मयता के अगणित अनजाने आयामों में डूबते जा रहे थे। एक प्लावन-सा आ गया था इस भूखण्ड में और सारा देश उसमें बह रहा था, तैर रहा था, डूब रहा था, अपने को खोकर अपने को पा रहा था। महाश्रमण के क्रान्त चरण लोकचेतना में विद्युत् की धारा प्रवाहित करते ग्रामों, नगरों, सन्निवेशों और जनपदों को मापते जा रहे थे और तोड़ते जा रहे थे अनन्त काल से मानव चेतना को आच्छन्न करनेवाले कर्मों के अटूट

पाश। चौदह हज़ार श्रमण, छत्तीस हज़ार श्रमणियों, लाखों गृहस्थ नर-नारियों का विराट् समुदाय जीवन-मुक्ति के पथ पर महाश्रमण की वाणी के दिव्य आलोक में बढ़ता जा रहा था। एक सम्पूर्ण क्रान्ति लोकजीवन का समग्र रूपान्तरण कर रही थी। एक ज्योति-पुंज प्रकट होकर दिन-रात फैलता जा रहा था, प्रभु की महाकरुणा उसे अपने प्राणों से सींच रही थी और आज....?

अभय और समता का सन्देश

'ण भाइयव्वं'—भय मत करो। न रोग से न वार्धक्य से, न मृत्यु से, किसी से मत डरो। प्रभु का अभय सन्देश हिंसा, क्रूरता, शोषण, उत्पीड़न और आतंक से घुटते जन-जीवन में आग की तरह फैल गया और जलाकर राख कर गया मानवीय चेतना के बन्धनों को, कुण्ठाओं को, ग्रन्थियों को। हरिकेशबल चाण्डाल की तपोमहिमा को प्रभु ने जातिवादी संकीर्णताओं पर सशक्त प्रतिष्ठा दी। शताब्दियों-सहस्राब्दियों से जातीय हीनता के दुःखद संस्कारों के नीचे पिसते न जाने कितने चित्रसंभूति एवं मेतार्य इस दिव्य घोष को सुनकर पुलकित हो उठे—तप की ही होती है महिमा, न कि जाति की। श्वपाक पुत्र हरिकेशबल की ऋद्धियाँ तथाकथित उच्च कुलस्थ महानुभावों के लिए भी अनुपलब्ध हैं। अन्धविश्वासों की जिस शृंखला ने नारी को संन्यास-साधना एवं मोक्ष-प्राप्ति के अधिकार से वंचित कर पुरुष की भोग्या, परिवार एवं समाज की सेविका, चल सम्पत्ति मात्र बना रखा था, वह चरमराकर टूट गयी जब प्रभु ने उन्मुक्त घोषणा की—मोक्ष सबको सुलभ है, चाहे वह नर हो अथवा नारी। राग से होता है बन्धन, वीतरागता से टूटकर हो जाता है छिन्न-भिन्न। रह जाती है चेतना अपने स्वभाव में। वह स्वभाव कहीं से आता नहीं है, अतः कहीं जाता भी नहीं, सदा विद्यमान रहता है हमारे भीतर। प्रभु के द्वारा प्रवर्तित संयम तीर्थ में दीक्षित छत्तीस हज़ार साध्वियाँ नारी-मुक्ति का तूफ़ानी सन्देश रूढ़िगत राष्ट्र की चेतना में तीव्रता से प्रसारित करती जा रही थीं, अपने जीवन की साधना से, वैराग्य से।

"शत्रु कहीं नहीं है बाहर, वह भीतर है। उसे जानो। जान लोगे तो जीत लोगे। जानना ही जीतना है। प्रमत्त उसे जानता नहीं, अतः जीत नहीं पाता। अर्हत् जानता है, अतः जीत लेता है। तुम्हारे भीतर का यह शत्रु तुम्हारा अहं है, देहात्मबोध है। इसी से निष्पन्न होते हैं राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ सारे आस्रव और कषाय जो अधःपतन के गह्वर में धकेलते जाते हैं तुम्हारी आत्मा को।" प्रभु के शब्द तरल-अग्नि जैसे मोम की परतों को विदीर्ण कर उसमें पैठ जाती है, वैसे ही लोकमानस में युगों से संचित विकृतियों को जलाकर उसमें उतर रहे थे। न जाने कितने चण्डकौशिक निर्विष हो गये प्रेम की उस मधुर दुग्ध-धारा

विसर्जन नहीं करता वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

अहंकारमयी आग्रहवृत्ति से आक्रान्त व्यक्तियों, समुदायों, सम्प्रदायों के लिए प्रभु ने अनेकान्त का उदार सिद्धान्त प्ररूपित किया : "एक है सत्य, पर अनेक हैं उसके पक्ष, हमारी सापेक्ष चेतना के स्तर पर। अनेक हैं उसकी अभिव्यक्तियाँ हमारी भाषा के स्तर पर, भौतिक प्रतीकों के स्तर पर। अतः 'ही' का आग्रह मत करो, 'भी' की चेतना में रहकर अपनी बात सबको कहो, सबकी बात स्वयं सुनो। वह जो अपने मत की प्रशंसा करता है, दूसरों के मत की निन्दा करता है, दूसरों को भ्रमित करता है, संसार-चक्र में दीर्घकाल तक भ्रमित होता है। वे जो कहते हैं कि उनके सम्प्रदाय में रहकर ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, निरे अज्ञानी हैं, दम्भी हैं तथा अज्ञान और दम्भ का ही प्रसार सर्वत्र कर रहे हैं।

पर आज निश्चल है प्रभु का पावन विग्रह, अनन्त में समा गयी है प्रभु की आत्मज्योति, अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य-पराक्रम का निःसीम पुंज। गहराता जा रहा है यहाँ अन्धकार। कहाँ मिलेगी ज्योति अब अन्धकार में भटकते प्राणियों को? कौन करेगा उजाला कोटि-कोटि जीवों के लिए? असह्य हो उठी है काल-रात्रि की तिमिर वेदना। चीत्कार कर उठे हैं कोटि कण्ठ—"प्रकाश करो, मिटाओ इस अँधेरे को, भयावह है यह, असहनीय है यह।" और उस रात घर-घर में दीप जल उठे, प्राचीरों पर दीपमालाएँ जगमगा उठीं, बाज़ारों में दीपों की क़तारें जल उठीं, लाखों-करोड़ों दीपों की अन्तहीन क़तार अन्धकार से जूझने लगी। लेकिन अन्धकार भीतर का था, बाहर का तिमिर तो उसकी छाया मात्र था, अतः प्रकाश भीतर का अपेक्षित था, बाहर के दीप तो उसके प्रतीक मात्र ही हो सके।

'अत्त दीवा अत्त सरणा, धम्म दीवा धम्म सरणा'—उसी देव पुरुष के समकालीन, उससे सोलह वर्ष छोटे, भगवान् बुद्ध ने कहा था—आत्मा ही दीप है, उसे प्रज्वलित करो। धर्म ही दीप है, उसे प्रज्वलित करो। आत्मा ही शरण है, धर्म ही शरण है। यहीं आकर होगा तुम्हारी अशरणता का अन्त।

तब से पचीस सौ वर्ष बाद, अब तक भी कोटि-कोटि मानव माटी के दीप जलाकर दुहरा रहे हैं उस संकल्प को, मृत्यु से अमरता, असद् से सद्, अन्धकार से प्रकाश की ओर मानव चेतना की महायात्रा की शाश्वत प्रेरण को, किन्तु सिर्फ़ ऊपरी स्तर पर। भीतरी स्तर पर कभी कहीं एक भी दीप जल उठेगा तो संसार को आलोकित होते कितने क्षण लगेंगे।

आधार में पूरब : दृष्टि में पश्चिम

☐

एक घटना सुनी है मैंने। गगन से बातें करता हुआ पचास मंज़िल का एक विशाल भवन। अचानक लिफ़्ट खराब हो गयी। ऑफ़िस का समय था। सब लोग परेशान थे। ऑफ़िस बन्द रह नहीं सकते। लिफ़्ट दो मंज़िलों के बीच में ऐसी फँसी थी कि जल्दी से ठीक होना सम्भव नहीं लग रहा था। क्या किया जाये, किसी की समझ में नहीं आ रहा था। सबसे अधिक परेशानी उन लोगों के चेहरे पर झलक रही थी जिनके ऑफ़िस पचासवीं मंज़िल पर थे। वे लोग आपस में मिले और तय किया, अपने-अपने क्रम से एक-एक व्यक्ति एक-एक लघु कथा कहता रहे। दूसरी मंज़िल प्रारम्भ होते ही अगला व्यक्ति कहानी प्रारम्भ कर दे। इस प्रकार कहानी कहते-कहते पचास मंज़िल की लम्बी यात्रा को पूरा किया जाये।

यात्रा प्रारम्भ हुई। कथाओं के क़हक़हों के बीच क़दम एक साथ उठ रहे थे। अभी वे मुश्किल से चार-पाँच मंज़िल चढ़े होंगे कि एक व्यक्ति क्रमभंग करते हुए ज़ोर से बोला—"जी, मुझे एक आवश्यक बात कहनी है।" उसकी बात को बीच में काटते हुए एक प्रमुख व्यक्ति ने कहा, "बीच में बोलकर शिष्टता और व्यवस्था को भंग मत करो। जो भी तुम्हें कहना हो, अपना क्रम आने पर कहो।" वह बेचारा चुप हो गया।

कथाओं का सिलसिला चलता रहा। बिना कोई थकान महसूस किये लोगों के पैर उठते रहे। मंज़िलों पर मंज़िलें तय होती रहीं। उनचास मंज़िलें पार हो चुकीं। लक्ष्य को क़रीब देखकर लोग राहत की साँस ले रहे थे। केवल एक मंज़िल ही तो शेष रह गयी थी। उस व्यक्ति के बोलने का क्रम अब आया, जो बीच में ही बोलने की कोशिश कर रहा था। लोगों ने कहा, "तुम्हें जो भी कहना है, अब कहो।" उसने कहा, "जी, मुझे तो केवल यही कहना था कि जिस पचासवीं मंज़िल पर हम लोग जा रहे हैं, उसकी चाभी तो नीचे रह गयी है।" यह सुनते ही सबके सिर पर जैसे सौ घड़े पानी पड़ गया। झल्लाकर वे बोले, "इसकी सूचना तुमको पहले ही देनी चाहिए थी।" उसने कहा, "जनाब, मैं तो बराबर कोशिश कर रहा था आपको सूचना देने के लिए। लेकिन मुझे आप अवसर तो देते बोलने का। फिर इसमें मेरा क्या दोष ?"

मैं नहीं जानता, यह घटना सच्ची है या मनगढ़न्त। मुझे नहीं मालूम, ऐसी घटना दुनिया के किसी भाग में कभी घटित हुई या नहीं। किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ, यह घटना हमारे साथ बराबर घटित हो रही है। हम आज अवश्य चाभी खोये हुए हैं। प्रगति की मंजिलों पर मंज़िलें हम तय करते जा रहे हैं, पर हमें पता नहीं है कि जहाँ हमें पहुँचना है वहाँ की चाभी हमारे पास है भी या नहीं। हमें तो अभी पहुँचने की ही चिन्ता है, चाभी की नहीं। जबकि जो लोग वहाँ पहुँच गये हैं, वे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं—"यहाँ आना व्यर्थ है। सब दरवाज़े बन्द हैं। दरवाज़ा खोलने की किसी के पास चाभी नहीं है। हम दरवाज़ा पीट-पीटकर पागल हो रहे हैं, किन्तु यह दरवाज़ा खुलता ही नहीं। शायद, हम किसी ग़लत मंज़िल पर आ गये हैं। इसलिए आप यहाँ मत आइए।" किन्तु इन सब बातों को हम सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। हमें एक ही चिन्ता सताये जा रही है कि हम पिछड़ गये हैं। पश्चिम के लोग हमसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। दरवाज़ा नहीं खुला है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। हम भारतीय लोग दरवाज़ा खोलने में बहुत माहिर होते हैं। अगर नहीं खुला तो तोड़ते भी हमें देर नहीं लगेगी।

अभी कुछ दिनों पहले की बात है। कनाड़ा का एक युवक-छात्र मेरे पास आया। कनाडा के किसी कॉलेज का प्रतिभाशाली छात्र है वह। मैंने पूछा, "किस आकर्षण से खिचकर आप यहाँ भारत आये?" वह बोला, "आप विश्वास नहीं कर सकते मुनिजी, हम किस प्रकार का तनावपूर्ण एवं बेचैन जीवन जी रहे हैं। सब प्रकार की सुख-सुविधाओं के प्रचुर साधन हैं हमारे पास। लेकिन जीवन जैसे पंगु होता जा रहा है। हमारे पास सब कुछ है, किन्तु शान्ति और आनन्द नहीं है। मैंने सुना, भारतीय लोगों के पास शान्ति है, आनन्दपूर्ण जीवन की कुंजी है। उसी कुंजी की खोज में मैं यहाँ आया हूँ।"

कहाँ है शान्ति और आनन्द ?

प्रश्न होता है कौन-सी है वह चाभी, जिसके बिना मंज़िल तक पहुँचने के बाद भी हम भीतर नहीं घुस सकते। कौन-सा अभाव है पश्चिम के पास, जिससे पूरब की ओर वह आशा-भरी नज़रों से निहार रहा है। क्या है ऐसा पूरब के पास, जिस आकर्षण में कभी भावातीत ध्यान, कभी अणुव्रत और भूदान और कभी हरे कृष्ण-हरे राम में पश्चिम अपने को भुला देना चाहता है। मैं समझता हूँ, पूरब के पास यदि कोई ऐसी चीज़ है, तो वह है संयम। संयम वह कुंजी है जो शान्ति और आनन्द का द्वार खोल देती है। इस संयम के धन ने ही भारत को सदा शीर्ष-स्थानीय बनाया है। इस देश ने अनेक बार अपनी स्वतन्त्रता भी

खोयी है। सम्पत्ति, वैभव और भौतिक समृद्धि में भी वह अन्य देशों से दौड़ में कई बार पिछड़ गया है। किन्तु संयम की परम्परा को उसने सदा अक्षुण्ण रखा है। इसी कारण अन्य देश यहां पर भागे जा रहे हैं।

क्या संयम और दमन एक है

सबसे पहले संयम को ठीक से समझ लेना बहुत जरूरी है। क्योंकि 'संयम' शब्द को लेकर आज अनेक भ्रान्त धारणाएँ फैलायी जा रही हैं। लोगों ने संयम और दमन शब्द को एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लिया है, जबकि इन दोनों शब्दों में उतना ही अन्तर है जितना धूप और छांव में, जितना उत्तर और दक्षिण में। 'संयम' शब्द की अर्थयात्रा 'दमन' से ठीक विपरीत दिशा में चलती है। 'संयम' शब्द संस्कृत की 'यम्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'यम् उपरमे—उपरत' होना; जबकि दमन का अर्थ है 'दमुच् उपतापे—उत्ताप' होना। संयम में उपराम है, दमन में उत्ताप। संयम में स्वतन्त्रता है, दमन में विवशता। संयम में सुरक्षा है, आश्वासन है, जबकि दमन में भय है, पीड़ा है, तनाव है। दिन-भर ऑफ़िस में काम करके हम थके-थके घर आते हैं। दरवाजा बन्द कर रात-भर घर में विश्राम करते हैं। हमारी सारी थकान दूर हो जाती है। सारा तनाव समाप्त हो जाता है। हम वहां अपने को सुरक्षित और निर्भय महसूस करते हैं। एक दिन ऐसा होता है, घर पर ही पुलिस हमें पकड़कर ठीक सामनेवाले मकान में बन्द कर देती है। वह मकान हमारे अपने मकान से अधिक सुसज्जित और आरामदेह है। वहां प्रकाश अधिक है, हवा अधिक है, सुख-सुविधा के साधन अधिक हैं। फिर भी रात-भर हम नींद नहीं ले सकते। थकान और बेचैनी और अधिक बढ़ जाती है। हर क्षण एक आतंक और भय का हमें सामना करना पड़ता है।

आखिर इतना फ़र्क़ क्यों हुआ इन दोनों स्थितियों में? केवल इसलिए कि एक में हम स्वयं बन्द होते हैं, दूसरे में हम बलात् बन्द किये जाते हैं। एक में स्वेच्छा है, दूसरे में पराधीनता। बाहर से दोनों स्थितियों में कोई फ़र्क़ मालूम नहीं होता। प्रत्युत दूसरी स्थिति अधिक आरामदेह लगती है। किन्तु वस्तुतः वह है नहीं। यही अन्तर स्वतन्त्रता और गुलामी में होता है। यही फ़र्क़ संयम और दमन में है। संयम और दमन में इतना बड़ा फ़र्क़ होते हुए भी दोनों को एक मान लेना सबसे बड़ी भूल है। मुझे आश्चर्य होता है जब मैं कुछ समझदार और चिन्तनशील लोगों को भी संयम के विरोध में खड़ा देखता हूं। यह संयम और दमन को एक मान लेने की नासमझी का ही परिणाम है।

भारतीय संस्कृति को संयम मान्य, दमन नहीं

भगवान् महावीर से पूछा गया—एक व्यक्ति सुन्दर वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, मनोहारी आभूषण, सुन्दर स्त्रियाँ और ऐश्वर्यशाली भवन का उपभोग नहीं करता। क्योंकि ये उसे उपलब्ध नहीं हैं। क्या वह संयमी है ?

भगवान् ने कहा—

"वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइति वुच्चई॥"

—वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और मकानों का उपभोग जो इसलिए नहीं करता, क्योंकि उसे प्राप्त नहीं है, वह त्यागी-संयमी नहीं है। यहाँ संयम नहीं, दमन है। वह भोग इसलिए नहीं कर रहा है, क्योंकि उसे ये चीज़ें मिल नहीं रही हैं। वह बाध्य है उपभोग नहीं करने के लिए। इसलिए वह संयमी नहीं है। संयमी वह है जो बाध्यता से नहीं, स्वाधीनता से भोगों का त्याग करता है :

"जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठीकुव्वई।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई॥"

—जो कान्त और प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी पीठ दिखाता है, अपनी इच्छा से उन भोगों का त्याग करता है, वह त्यागी-संयमी है।

भगवान् कृष्ण ने कहा—जो कर्मेन्द्रियों का संयमन करके भी इन्द्रिय-विषयों का मन से स्मरण करता रहता है, उस विमूढात्मा का वह संयम मिथ्याचार है।

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते॥"

इस प्रकार यह बिलकुल स्पष्ट है भारतीय साधना-पद्धति में दमन को कभी स्थान नहीं दिया गया। संयम के नाम पर चलनेवाले दमन की सर्वत्र भर्त्सना की गयी।

अपने पर अपना अनुशासन

संयम का अर्थ है—अपने पर अपना अनुशासन। संयम का अर्थ है—करणीय और अकरणीय का विवेक जग जाना। संयम का अर्थ है—वासना के संस्कारों से चित्त का उपरत होना। यहाँ एक बात पर ध्यान देना ज़रूरी है। संयम में हम वासना के संस्कारों से उपरत होते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम निष्क्रिय हो जाते हैं, प्रवृत्ति-शून्य हो जाते हैं। हम संस्कार-शून्य होते हैं, प्रवृत्ति-शून्य नहीं। प्रवृत्ति से हम भागते नहीं हैं। किन्तु प्रवृत्ति के साथ होनेवाले प्रमाद से मुक्त होते हैं। संन्यास को जो पलायन कह दिया जाता है कहीं-कहीं, वह एक नासमझी भरी बात है। भगवान् महावीर से पूछा गया—

"कहं चरे, कहं चिट्ठे, कहमासे, कहं सए,
कहं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मे न बंधई ॥"

—"कैसे चलूँ, कैसे ठहरूँ, कैसे बैठूँ, कैसे सोऊँ और कैसे बोलूँ, जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।" इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने यह नहीं कहा, तुम चलो मत, ठहरो मत, बैठो मत, सोओ मत, खाओ मत और बोलो मत। किन्तु यह कहा—

"जयं चरे, जयं चिट्ठे, जय मासे, जयं सए
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधई ॥"

—तुम चलो पर संयमपूर्वक, ठहरो पर संयमपूर्वक, बैठो पर संयमपूर्वक, सोओ पर संयमपूर्वक, खाओ पर संयमपूर्वक, बोलो पर संयमपूर्वक, तुम्हारे पाप-कर्म का बन्ध नहीं होगा।

गीता ने इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—

"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियः कर्मयोगमशक्तः स विशिष्यते" ॥

—अर्जुन ! जो मन के द्वारा इन्द्रियों पर संयम साधकर अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है, वह विशिष्ट है।

इस प्रकार हमने जाना, संयम न दमन ही है और न प्रवृत्तियों से पलायन। संयम है अपने द्वारा अपने पर अपना अनुशासन। अब्राहम लिंकन ने जनतन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा था—'जनता के द्वारा, जनता पर, जनता का शासन।' ठीक इसी तरह संयम में व्यक्ति 'अपने द्वारा, अपने पर, अपना अनुशासन' करता है, अपने विवेक-जागरण से अपना स्वयं मार्ग-दर्शन करता है।

संयम ही जीवन कैसे

प्रश्न होता है, संयम ही जीवन है—यह कहाँ तक सच है ? यदि यह कहा जाता, अन्न ही जीवन है, पानी ही जीवन है, हवा ही जीवन है, फिर भी समझ में आ सकता था। क्योंकि अन्न, पानी और हवा के बिना मनुष्य का जीना बहुत कठिन है। अथवा आज के युग में यदि यह कहा जाता कि पैसा ही जीवन है तो भी समझ में आ सकता था। किन्तु संयम ही जीवन है, यह कथन समझ में आना मुश्किल है। पर बहुत बार ऐसा भी होता है, जो हम समझे हुए होते हैं, तथ्य उससे उलटा ही होता है। हमको लगता है हम अन्न, पानी और हवा से ही जीते हैं। इनके अभाव में हम मर ही जायेंगे। किन्तु मैं कहूँगा, हम अन्न, पानी और हवा से नहीं, किन्तु संयम से ही जीते हैं। हमने ऐसे-ऐसे व्यक्तियों को देखा है, जो वर्षों से कुछ भी खा-पी नहीं रहे हैं, फिर भी वे जिन्दा हैं। योग-

साधना के बल पर वे भूख और प्यास पर विजय पा लेते हैं। उनके शरीर को अन्न और पानी की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। एक-दो मास तक बिना अन्न-पानी के कोई भी व्यक्ति ज़िन्दा रह सकता है। बिना साँस लिए भी व्यक्ति कई दिनों तक ज़िन्दा रह सकता है। ऐसे व्यक्ति भी देखे गये हैं जो साँस रोककर चालीस दिनों तक समाधि में रहे हैं, और वे आज भी सामान्य ढंग से जी रहे हैं। किन्तु संयम के बिना हम एक भी दिन ज़िन्दा नहीं रह सकेंगे। जिस दिन भी खाने में संयम नहीं रहा, हमारी बुरी हालत हो जायेगी। रात-भर तड़पते रहेंगे हम बिछौने पर। डॉक्टर समय पर नहीं पहुँचे, तो हो सकता है प्राणान्त भी हो जाये। और अधिक मौतें ऐसे ही होती हैं। दुनिया के प्रसिद्ध डॉक्टरों का कहना है, अन्न के अभाव से मरनेवालों की संख्या बहुत कम है, जबकि अधिक अन्न खाने से मरनेवालों की संख्या बहुत ज़्यादा है। ये आँकड़े हमें बताते हैं कि हम अन्न-पानी से नहीं, संयम से जीते हैं। खाने-पीने में हमारा जितना संयम है, विवेक है, उसी के आधार पर हम जीते हैं।

संयम समस्त साधना-पद्धति का आधार है

इसीलिए भारतीय साधना-पद्धति में संयम को अनिवार्य स्थान दिया गया। सभी दर्शनों का विकास भी संयम की भूमिका पर ही हुआ। दया, करुणा, दान, उपवास, जप, स्वाध्याय, ध्यान इन सबका महत्त्व तभी है जब इनकी नींव में संयम है। संयम के अभाव में ये प्राणशून्य ढांचे के समान हैं। नमि राजर्षि अपने सम्पूर्ण राज्य-वैभव को छोड़कर जब संन्यास के लिए उद्यत होते हैं, इन्द्र उनसे कहता है—

"जइत्ता विउले जन्ने भोइत्ता समण-माहणे
दच्चा भोच्चा य जट्ठाय, तओ गच्छसि खतिया।"

—हे क्षत्रिय! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो और यज्ञ करो, फिर बाद में मुनि बन जाना।

नमि राजर्षि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

"जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सा वि संजमो सेओ, अदितस्स वि किंचण॥"

—जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेयस्कर है, भले फिर वह कुछ भी न दे। और इसलिए संयम और दान की भूमिकाओं को समझ लेना बहुत ज़रूरी है। नमि राजर्षि कहते हैं, दस लाख गायों का दान करनेवाले के लिए भी संयम श्रेयस्कर है। चाहे फिर वह दान देना बन्द ही कर दे। क्योंकि संयम के साथ ही दान की सार्थकता है।

संयम के साथ ही होनेवाली करुणा का महत्व है। संयम के बिना होनेवाली दया और करुणा बेकार है, अपने अभिप्राय को खो देनेवाली है।

संयम और करुणा में अन्तर

भगवान् बुद्ध ने करुणा पर जोर दिया। उन्होंने कहा, तीर से बिंधा हुआ पक्षी सामने पड़ा-पड़ा तड़प रहा है। तत्काल उसका तीर बाहर निकालो, मत सोचो, यह यह तीर कहां से आया, किसने चलाया, क्यों चलाया। इस सोच में ही समय मत गँवाओ। तीर बाहर निकालो और पक्षी को बचाओ।

भगवान् महावीर ने कहा—तीर को निकालना तो जरूरी है ही किन्तु इस पर भी ध्यान देना जरूरी है कि यह तीर किस दिशा से आया, किसने चलाया और क्यों चलाया। यदि तीर आने का मार्ग नहीं रोका गया, यदि तीर चलाने-वाले का पता नहीं लग पाया तो एक तीर निकाल देने से प्राण बच जानेवाले नहीं हैं। फिर कोई दूसरा तीर उसके प्राणों का हरण कर लेगा। इसलिए उस स्रोत को रोकना जरूरी है जहाँ से तीर आ रहा है।

यही संयम और करुणा में फ़र्क़ है। संयम उस मूल उद्गम को रोकता है, जबकि करुणा और दया केवल एक तीर को निकालकर कृतकृत्य हो जाती है। किन्तु जहाँ संयम नहीं, वहाँ दया और करुणा भी श्रेयस् तक नहीं ले जा सकती। आचार्य बोधिधर्म जब चीन में पहुँचे तो उस प्रदेश का राजा उनके दर्शन के लिए आया। बहुत ही धार्मिक रुचि रखता था वह। बौद्ध धर्मके विकास-विस्तार के लिए उसने बहुत कुछ किया था। आचार्य बोधिधर्म को नमन कर उसने पूछा—"मैंने अपने जीवन में अनेकों मन्दिर, विहार, अनाथालय, अस्पताल, धर्मशालाएँ, आदि बनवाये हैं। क्या वे मेरे श्रेयस् के लिए होंगे?"

आचार्य बोधिधर्म ने कहा—"नहीं।"

राजा इस उत्तर के लिए तैयार नहीं था। वह तो सोचता था कि आचार्य मेरे इन कार्यों को महान् श्रेयस्कारी बतायेंगे। इससे विपरीत उत्तर सुनकर हत-प्रभ-सा रह गया। उसने साहस बटोरकर फिर पूछा—"आर्य, मैंने भगवान् तथागत के सन्देश को घर-घर तक पहुँचाने के लिए अपने दूतों को स्थान-स्थान पर भेजा है। भगवान् बुद्ध की वाणी को लिपिबद्ध कराकर हज़ारों-हज़ारों स्थानों में वितरित करवाया है। क्या ये मेरे श्रेयस् के लिए होंगे?"

आचार्य क्षण-भर के लिए रुके। राजा सोच रहा था, इस बार वे अवश्य मुझपर प्रसन्न होंगे और इन कार्यों को महान् पुण्य का कारण बतायेंगे। तभी आचार्य ने धीमे से कहा—"नहीं।"

यह सुनते ही उसका धीरज का बाँध टूट गया। आचार्य पर झुँझलाहट भी आयी उसे। ये भी कोई आचार्य हैं जो हर पुण्य कार्य को नकारते जा रहे हैं! किन्तु आचार्य से कुछ कहने का उसमें साहस भी नहीं था। फिर विनम्र मुद्रा में पूछा—"कृपा करके आप ही बताइए, कौन-सा है फिर श्रेयस् का मार्ग।"

आचार्य ने कहा—"शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना ही श्रेयस् का मार्ग है। मन्दिर, विहार, धर्मप्रचार, शास्त्र-लेखन केवल चित्त को उल्लास से भरने-वाली प्रवृत्तियाँ हैं। शील की साधना के साथ उनका महत्त्व हो भी सकता है, किन्तु शील के अभाव में श्रेयस् नहीं सधनेवाला है।"

साम्यवाद और नक्सलवाद का जन्म क्यों?

भारत में धर्म और पुण्य के नाम पर जितना दान होता है, दुनिया के शायद ही किसी देश में होता हो। करोड़ों-करोड़ों रुपयों के दान-कोष बने हुए हैं हमारे यहाँ। दस रुपया मजदूरी करके कमाना मुश्किल है हमारे देश में, किन्तु एक भिखारी को दस रुपया दान में बड़ी आसानी से मिल जाता है। हजारों की संख्या में मन्दिर, स्कूल-कॉलेज, धर्मशालाएँ, हॉस्पिटल, अनाथालय आदि बने हुए मिलेंगे केवल इस दान की राशि से। दान की इतनी उदार परम्परा के बावजूद भारत में साम्यवाद और नक्सलवाद-जैसी खतरनाक विचारधाराओं का जन्म होना अपने में एक महान् आश्चर्य है। इसका एकमात्र कारण यही है कि दान का प्रचलन यहाँ अवश्य है, किन्तु लोगों के जीवन में संयम की प्रतिष्ठा नहीं है। यहाँ का एक व्यक्ति दान में लाखों रुपये अवश्य दे सकता है, पर उसे यदि यह कहा जाये कि तुम तस्कर व्यापार, चोरबाजारी आदि अनैतिक तरीकों से रुपये मत कमाओ, फिर चाहे तुम दान मत भी दो, तो यह उसके लिए सम्भव नहीं है। दान उसके लिए सम्भव है, संयम उसके लिए सम्भव नहीं। और इसी असंयम ने बुद्धिजीवी लोगों के दिलों में धर्म के प्रति नफ़रत की भावना पैदा की है। इसी असंयम ने देश में नक्सलवाद को जन्म दिया है, असंयम ही जन्मदाता है नास्तिकता का। नक्सलवादी लोग देखते हैं, हमारा ही शोषण कर ये लोग धनवान् बनते हैं और हमें ही फिर रोटी का सूखा टुकड़ा डालकर ये दान और पुण्य कमाते हैं। विलास भी ये भोगते हैं और धर्मात्मा भी ये ही बनते हैं। इसी की प्रतिक्रिया ने धर्म के प्रति लोगों के दिलों में अनास्था पैदा कर दी। इसी की प्रतिक्रिया ने भारत में नक्सलवाद को पाँव पसारने का मौक़ा दिया। सच्चाई यह है कि करुणा, दया, दान, जप, उपवास तथा अन्य सभी क्रियाकाण्डों का तभी मूल्य है, जब उनके आधार में संयम है।

संयम की प्रतिष्ठा आवश्यक

पूरब का जीवन ग़रीबी से आक्रान्त होकर पश्चिम की ओर भाग रहा है। पश्चिम का जीवन अमीरी से आक्रान्त होकर पूरब की ओर भागता आ रहा है। पर पूरब यदि पश्चिम हो जाये और पश्चिम यदि पूरब हो जाये, तो भी समस्या का समाधान नहीं होनेवाला है। क्योंकि पूरब ने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि खो दी है और पश्चिम के पास धर्म नहीं है। अब पूरब जब विज्ञान की ओर जा रहा है, पश्चिम धर्म के नज़दीक आ रहा है। किन्तु पूरब ने धर्म में वैज्ञानिक दृष्टि पहले ही खो दी है, और पश्चिम विज्ञान से ऊबकर कोरे धर्म को, बाहरी क्रियाकाण्डों को ही पकड़ रहा है, इसलिए पूरब यदि पश्चिम हो जाये और पश्चिम पूरब हो जाये, फिर भी मानवता पर आया हुआ संकट दूर होनेवाला नहीं है। यह संकट ज्यों का त्यों बना रहेगा।

एक गाँव में एक आस्तिक और एक नास्तिक रहते थे। दोनों ही प्रकाण्ड विद्वान्, अपने-अपने विषयों के प्रतिपादन में विलक्षण। गाँव के लोग परेशान थे। जब वे आस्तिक के पास जाते, तो वे आस्तिक बन जाते। आस्तिक व्यक्ति की दलीलें ही कुछ ऐसी थीं कि लोगों को आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म पर विश्वास हो जाता। उन्हें लगता यही व्यक्ति सच्चा है, नास्तिक झूठा है।

किन्तु नास्तिक भी कोई कच्चा खिलाड़ी नहीं था। वह एक से एक अधिक वज़नवाले प्रमाण, एक से एक अधिक वज़नदार तर्क लोगों के समक्ष रखता। लोग मुश्किल में पड़ जाते। उन्हें लगता, आस्तिक ने उनको गुमराह कर दिया है। वस्तुतः आत्मा-परमात्मा का अस्तित्व हो नहीं सकता। यह व्यक्ति ठीक कह रहा है। किन्तु जब वे पुनः आस्तिक के पास जाते, उन्हें वह ठीक लगता।

सारा गाँव परेशान था। किसको सही माना जाये और किसको ग़लत, समझ में ही नहीं आ रहा था। एक बार सबने मिलकर सोचा, इस संकट का अन्त तभी हो सकता है जब वे दोनों मिलकर यह निर्णय कर लें कि कौन सही है कौन ग़लत। दोनों चर्चा करें, फिर जो हार जाये, वह दूसरों की बात मान ले। इस परेशानी का अन्त अपने आप हो जायेगा।

चर्चा का समय तय कर दिया गया। ऊँचे-ऊँचे मंच पर दोनों विद्वानों को बैठाया गया। सामने पूरा गाँव बैठ गया। रात-भर चर्चा चलती रही। आस्तिक ने अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये। नास्तिक ने अनेक सबल प्रमाणों से अपने मत की पुष्टि की। सवेरा होने को आया। लोग खुशी से झूम रहे थे कि आज दोनों एक मत पर अवश्य पहुँच जायेंगे।

दोनों की वाग्मिता अपूर्व थी। कुछ लोग सोच रहे थे, दोनों या तो नास्तिक

हो जायेंगे या आस्तिक। लेकिन हुआ यह कि आस्तिक तो नास्तिक हो गया और नास्तिक आस्तिक हो गया। लोगों को बहुत निराशा हुई। उनका संकट, उनकी परेशानी तो फिर वैसी की वैसी रह गयी।

पूरब आज धर्म से परेशान है। पश्चिम आज विज्ञान से परेशान है। इसीलिए सारी मानव-जाति पर एक संकट छाया हुआ है। यदि पश्चिम पूरब बन गया और पूरब पश्चिम बन गया, तो भी वह संकट कम होनेवाला नहीं है। वह संकट दूर तभी होगा, जब आधार संयम का होगा, दृष्टि विज्ञान की होगी। आधार में पूरब होगा, दृष्टि में पश्चिम होगा। तभी यह संकट दूर होनेवाला है, तभी मानव जाति को एक महान् विनाश से उबारा जा सकेगा।

●●●

हमारे अन्य निबन्ध संग्रह

निबन्ध	लेखक	मूल्य
जियें तो ऐसे जियें	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	५.००
निषाद बांसुरी	कुबेरनाथ राय	१७.००
व्यास पर्व	दुर्गा भागवत	८.००
कस्तूरी मृग [पुरस्कृत]	शिवप्रसाद सिंह	७.५०
गन्धमादन [पुरस्कृत, द्वि. सं.]	कुबेरनाथ राय	१५.००
रस आखेटक	,,	८.५०
प्रिया नीलकण्ठी [पुरस्कृत, द्वि. सं.]	,,	८.००
स्वप्नलोक	हरिमोहन शर्मा	१०.००
तरुणाई के सपने [द्वि. सं.]	नेताजी सुभाषचन्द्र बोस	१०.००
शार्टकट की संस्कृति	केशवचन्द्र वर्मा	८.००
शुभागता	पुष्पा भारती	८.००
ठेले पर हिमालय [द्वि. सं.]	डॉ. धर्मवीर भारती	११.००
पश्यन्ती [द्वि. सं.]	,, ,,	१०.००
श्री और सौरभ	उमाशंकर जोशी	८.००
अवधी व्रत कथाएँ	डॉ. इन्दुप्रकाश पाण्डेय	७.००
पुरातत्त्व का रोमांस	डॉ. भ. श. उपाध्याय	६.००
सांस्कृतिक निबन्ध	,, ,,	५.००
ठूँठा आम	,, ,,	४.००
परिवेश	मोहन राकेश	६.००
वाग्धारा	डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल	५.००
कुछ निबन्ध	अक्षयकुमार जैन	४.००
चिन्तक की लाचारी [अप्राप्य]	माखनलाल चतुर्वेदी	६.००
अमीर इरादे ग़रीब इरादे [तृ. सं., अप्राप्य]	,, ,,	४.००
एक साहित्यिक की डायरी [तृ. सं.]	ग. मा. मुक्तिबोध	३.२५
हम सब और वह [द्वि. सं.]	दयानन्द वर्मा	३.००

निबन्ध	लेखक	मूल्य
बातें, जिनमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	४.५०
क्षण बोले कण मुसकाये [द्वि. सं.]	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	५.५०
महके आँगन चहके द्वार [द्वि. सं.]	,, ,,	७.००
बाजे पायलिया के घुँघरू [तृ. सं.]	,, ,,	६.००
माटी हो गयी सोना	,, ,,	७.००
ज़िन्दगी मुसकरायी [च. सं.]	,, ,,	६.००
शिखरों का सेतु	डॉ. शिवप्रसाद सिंह	५.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकी राय	५.००
आँगन का पंछी और बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	४.५०
नये रंग नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
काग़ज़ की किश्तियाँ	,, ,,	५.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	४.५०
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	४.५०
ग़रीब और अमीर पुस्तकें [द्वि. सं.]	रामनारायण उपाध्याय	३.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ? [अप्राप्य]	रावी	४.५०
हिन्दूविवाह में कन्यादान का स्थान [तृ. सं.]	डॉ. सम्पूर्णानन्द	२.००

□